ॐ

९५०

वेदका स्वयं शिक्षक।

द्वितीय भाग।

लेखक-
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडळ, औंध (जि. सातारा.)

प्रथम वार २०००

संवत १९७८, शके १८४३, सन १९२२

मूल्य १॥) डेढ रुपया।

स्वाध्याय मंडलके पुस्तक।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। "मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।" मूल्य १) एक रु.।

(२) य. अ. ३२ की व्याख्या। सर्वमेध। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥) आठ आने। (द्वितीयवार मुद्रित)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥) आठ आने। (द्वितीयवार मुद्रित)

[२] देवता-परिचय-ग्रंथ-माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥) आठ आने।

(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=) दस आने।

(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. ≡) तीन आने।

(४) देवता विचार। मू. ≡) तीन आने।

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। योग की दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तकमें लिखी है। मू. १॥) (द्वितीयवार मुद्रित)

(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥) आठ आने।

(३) वैदिक-प्राण-विद्या। (प्राणायाम-पूर्वार्ध) मू. १) रु.

(४) प्राणायाम .... }
(५) आसन .... } छप रहे हैं।
(६) ब्रह्मचर्य- .... }

ॐ

वेदका स्वयं-शिक्षक ।

द्वितीय भाग ।

लेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडळ, औंध (जि. सातारा)

प्रथमवार २०००

संवत १९७८, शके १८४३, सन १९२२

मूल्य १॥) डेढ रुपया ।

Shri Haribamsha ... Baskota,
श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय बास्कोटा,
Ishwariniwas, Nepalganj, (Banke),
ईश्वरी निवास, नेपालगंज, (बाँके)
P. O. RUPAIDIHA, Dist. Bahraich

प्रकाशक—**श्रीपाद दामोदर सातवळेकर**, स्वाध्यायमंडल,
औंध (जि. सातारा.)

मुद्रक—**चिंतामण सखाराम देवळे**, मुंबईवैभव प्रेस, सर्व्हंट्स् ऑफ
इंडिया सोसायटीज् बिल्डिंग, सँढर्स्ट रोड, गिरगांव–मुंबई.

ओ३म्

वेदका स्वयं-शिक्षक।

द्वितीय भाग।

" वेद-स्वयं-शिक्षक " प्रथम भाग प्रसिद्ध होनेके पश्चात् बहुतही ग्राहकोंसे द्वितीय भाग शीघ्र छापनेके लिये सूचनायें आगईं। परंतु अन्य ग्रंथोंके लेखनमें लगनेके कारण इस ग्रंथको पूर्ण करनेके लिये इतनी देर लगी। इस देरीके लिये वेदाभ्यासी पाठकोंसे क्षमा मांगनी आवश्यक है।

वास्तवमें " वेद-स्वयं-शिक्षक " का अभ्यासक्रम केवल चारही मासका होता है। प्रतिदिन एक घंटा अभ्यास करनेसे " वेद-स्वयं शिक्षक "का एक भाग समाप्त करनेके लिये चार मासका अवधि लगता है। इस लिये पहिला भाग प्रसिद्ध होनेके पश्चात् चार महिनोंके अंदर दूसरा भाग छपकर तैयार होना आवश्यक है। परंतु हमारेसे ऐसा नहीं हुआ और इस कारण वेद जिज्ञासु पाठकोंको समयपर द्वितीय भाग नहीं मिला। ऐसा होनेके लिये कई कारण हैं, उन सबका यहां उल्लेख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस कारण हम पाठकोंकी क्षमा ही मांग सकते हैं।

इस द्वितीय भागकी विशेषता ।

इस द्वितीय भागमें नामोंके रूपोंका पुल्लिंग और नपुंसकलिंग पूर्णतासे समाप्त हो चुका है। स्त्रीलिंगी नामोंके रूप तृतीय भागमें आजांयगे। यह नामोंका प्रकरण पहिले भागके अनुसार ही है। इसमें जो विशेषता है वह निरुक्तके विभागकी है। निरुक्तका विज्ञान अत्यंत सुगम रीतिसे देनेका प्रारंभ इस विभागमें किया है और यह प्रकरण प्रायः आगे दो तीन भागोंतक चल कर समाप्त होगा। शब्दकी उत्पत्ति कैसी होती है, शब्द आत्माका भाव किस प्रकार व्यक्त करता है, शब्दकी नित्यता किस दृष्टिसे है, अक्षरों और देवता-ओंका संबंध क्या है, शब्दकी शक्ति क्यों मानी जाती है, शब्द ब्रह्ममें '**महादेव**' कौन है, शब्दोंमें "**गुह्यविद्या**"की सुरक्षि-तता रखनेके लिये किस प्रकार गुह्य शब्द बनाये जाते हैं, वैदिक शब्दोंका अन्य शब्दोंसे भेद क्या है, इत्यादि बातोंका वर्णन उप-पत्ति समेत इस विभागमें आगया है। इसके अन्य विषय तीसरे भागमें आनेवाले हैं। इस लिये पाठक इस पुस्तकमें यह शब्दशास्त्रका विषय अच्छी प्रकार पढें और ध्यानपूर्वक समझनेका यत्न करें। क्योंकि आगेका संपूर्ण विषय इसीपर अवलंबित है।

यदि प्रथम भागका अभ्यास ठीक प्रकार हुआ होगा, तो इस पुस्तकका अभ्यास होनेके लिये कोई कठिनता नहीं होगी। आशा है कि पूर्वके समान ही यह भाग पाठकोंके प्रेमका भागी होगा।

इस भागका अभ्यास करनेकी रीति।

इस भागका अभ्यास करनेके लिये निम्न सूचनाओंकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है—

(१) यदि '**वेद–स्वयं–शिक्षक**' का प्रथम भाग ठीक प्रकार अवगत हुआ हो, उस पुस्तकमें दिये हुए सब मंत्र अर्थके समेत कंठ हुए हों, तथा अन्यान्य विषय पूर्णतासे ध्यानमें रहे हों, तोही इस पुस्तकका अभ्यास प्रारंभ कीजिये। प्रथम भाग कच्चा रहनेपर द्वितीय भागका अभ्यास विशेष लाभदायक नहीं होगा।

(२) अभ्यास करनेके समय प्रथम दो तीन बार संपूर्ण पाठ पढ जाईये। तत्पश्चात् उस पाठमें जो मंत्र दिये गये हैं, कंठ करनेका यत्न कीजिये। जब मंत्र कंठ हो जांयगे, उनका अर्थ ध्यानमें धरनेका प्रयत्न कीजिये। जब सब मंत्र अर्थज्ञानके समेत कंठ होंगे, तब आप उस पाठमें दिये अन्य विषय केवल पढ जाइये। इस प्रकार करनेसे तीन दिनमें एक पाठ बडी अच्छी प्रकार तैयार हो सकता है।

(३) प्रत्येक पाठके मंत्रोंको ही कंठ करना आवश्यक है, कोई अन्य विषय कंठ करनेका प्रयत्न भी न कीजिये। यह स्वयं-शिक्षककी रीति ही ऐसी है कि, मंत्र कंठ होनेके पश्चात् शेष सब विषय आपही आपको आ जांयगे। और विना कष्ट किये व्याकरण आदि सब आपके स्मरणमें रहेगा। इस विषयमें आप निश्चित रहिये।

(४) पहिला पाठ उत्तम तैयार हो जानेपर ही द्वितीय पाठका प्रारंभ कीजिये। देरी लगनेकी पर्वाह न कीजिये। जो पाठ तैयार करेंगे उसको अच्छी प्रकार उपस्थित रखकर ही आगे बढनेका क्रम हमेशा रखिये।

(५) जितना आपमें बुद्धिका बल होगा, उतना खर्च करके मंत्रोंको कंठ करनेका प्रयत्न कीजिये। यही एक उपाय है, जिससे कि विना आयास वेदका बोध हो सकता है। इसकी ओर जो पाठक विशेष ध्यान नहीं देंगे, उनको इन पुस्तकोंसे विशेष लाभ नहीं होगा।

(६) जो पाठक मंत्रोंको कंठ नहीं कर सकते, उनको उचित है कि वे प्रत्येक दिन प्रत्येक पाठमें दिये हुए मंत्रोंका दो, चार, दस वीस वार, जितना हो सकता है, पाठ किया करें। ऐसा करते करते कई दिनोंके पश्चात् मंत्र स्वयं ही कंठ हो जांयगे। और इसप्रकार मंत्र कंठ करनेका आनंद उनको प्राप्त होगा।

(७) जो तरुण हैं और कंठ करनेका उत्साह धारण करते हैं उनको उचित है, कि वे प्रत्येक मंत्र २१ वार उच्चारण करें। यदि इतना करनेसे कंठ हुआ तो ठीक है, नहीं हुआ तो और तीन दिन ऐसाही करें। तीन दिनोंमें इस प्रकार मंत्र कंठ हो सकता है। जिनकी स्मरणशक्ति कम हो, उनको सात दिन पर्याप्त हैं।

(८) मंत्र कंठ करनेसे समय व्यर्थ जाता है, ऐसा न समझिये मंत्र कंठ होनेसे वेदका अर्थ करनेमें बडी सुगमता होती है।

“ **वेद–स्वयं–शिक्षक** ’ के दोनों भागोंमें एक हजार मंत्रोंके भाग दिये गये हैं । यदि ये सब भाग कंठ हो गये और आपको उपस्थित रहे, तो आपको पता लग जायगा, कि कितनी योग्यता हो जाती है । इसके अतिरिक्त विविध विषयोंपर व्याख्यान देनेके समय, लेख लिखनेके समय, अथवा कोई विषय किसीको समझानेके समय आप इन मंत्रोंका उपयोग कर सकते हैं । विविध विषयोंके मंत्र इनमें आगये हैं । इतने मंत्र आपको कंठ हुए, तो आपकी योग्यता ही मंत्र विज्ञान के विषयमें अधिक होगी और साधारण मंत्र आप स्वयं लगा सकेंगे । इस लिये उक्त बात आप न भूलिये और इस विषयमें कभी आलस्य न कीजिये ।

पाठशालाओंका अभ्यास ।

पाठशालाओंके श्रेष्ठ श्रेणियोंकी धार्मिक पढाईके लिये ये ‘ **वेद-स्वयं शिक्षक** ’ के भाग बडे उपयोगी हैं । विद्यार्थियोंको हम अपने विचार देनेकी अपेक्षा, और उनको अपने मतोंसे रंगानेकी अपेक्षा, यदि वेद मंत्रोंका अर्थ ही उनको समझायें और वेद मंत्र ही उनसे कंठ करवायें, तो कितना अच्छा होगा ? इसी ढंग पर वैदिक धर्मकी सच्ची जागृति नवयुवकोंके अंदर हो सकती है । पाठशालाओंकी पढाईमें ये ‘ **वेद-स्वयं-शिक्षक** ’ के विभाग एक वर्षकी पढाईके लिये पर्याप्त हैं ।

संघमें पढाई ।

यदि आपके दो चार मित्र हों, तो दिनका कोई समय निश्चित

करके, विशेषतः सबेरका समय इस कार्यके लिये अच्छा है, " वेद-स्वयं-शिक्षक " की पढाई सब मिलकर प्रारंभ कीजिये। इस प्रकार संघशः पढाई करनेसे आपकी सब पढाई अत्यंत सुगम हो जायगी और थोडे समयमें बहुत काम होगा। तथा एक दूसरेके विचार मिल जानेसे मंत्रोंके गूढ अर्थ विस्पष्ट होते रहेंगे।

बडी आवाजमें मंत्रपाठ।

मंत्रपाठ करनेके समय बडी आवाजमें और उत्तम स्वरमें मंत्रपाठ कीजिये। मनमें पढनेकी अपेक्षा बडी आवाजमें पढनेसे पढाई अधिक दृढ हो जाती है।

आशा है कि पाठक इन सब बातोंका ख्याल करके इस पुस्तकसे अधिकसे अधिक लाभ उठायेंगे।

औंध (जि. सातारा)
१ पौष सं. १९७८

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल,

वेदका स्वयं-शिक्षक।

द्वितीय पुस्तक।

पाठ १

वेदका अध्ययन करनेके समय शब्दोंकी उत्पत्ति अथवा व्युत्पत्तिका विशेष विचार करना चाहिये। शब्दशास्त्रका सम्यक् ज्ञान ही वेदका सम्यक् अर्थ जाननेका मुख्य साधन है। इसलिये इस शास्त्रके मुख्य नियम इस पुस्तकमें दिये जाते हैं, उनको पाठक ध्यानपूर्वक पढें। इन नियमोंको कंठस्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु वारंवार पढकर इनको अच्छी प्रकार स्मरण रखनेकीही अत्यंत आवश्यकता है। शब्दशास्त्रका विचार करनेके समय शब्दकी उत्पत्ति कैसी होती है, इसका भी ज्ञान आवश्यक है; इसलिये इसका थोडासा विचार यहां करते हैं—

शब्दकी उत्पत्ति।

सम्राट् आत्मा अपनी बुद्धिके साथ मिलकर अपने भावोंको प्रकट करना चाहता है। वह आत्मा इस कार्यके लिये अपने मंत्रीको (अर्थात् मनको) नियुक्त करता है। वह मन अपने सेनापतिको (अर्थात् अग्निको) आज्ञा करता है, कि यह भाव जगतमें प्रकट करो। वह सेनापति अपने सीपाहीको (अर्थात् मरुत्, मारुत् किंवा) वायुको प्रेरणा करता है। आत्मा–रामका वह सेवक मरुत् (मारुती) वार्तांहर बनकर हृदयसे अपना कार्य करनेके लिये वेगसे चलता है और " मंद्र " आवाज करता है। वह हृदयसे कंठद्वारा बाहिर आकर मुखके विविध स्थानोंमें जाकर विविध अक्षरोंको प्रकट करता है और आत्मा–रामका संदेशा जगत् में फैलाता है। प्रत्येक शब्दका उच्चार होनेके समय उक्त बातें होती हैं। ये सब अधिकारी और नौकर बडे आज्ञाकारी होनेके कारण अपने अपने संपूर्ण व्यापार शीघ्र और उत्तमताके साथ करते हैं; और आत्माका संदेशा जगत्में उद्घोषित करते हैं!!! यहां पाठक विचार करें कि एक एक शब्दके पीछे कितनी शक्तियां हैं, कि जो उसको उत्पन्न करनेमें उपयुक्त कीं जातीं हैं,—

(राज्यमें)	(शरीरमें)	(जगत्में)
सम्राट्	आत्मा	परमात्मा
समिति	बुद्धि	प्रकृति
मंत्री	मन	महत्तत्व (अहंकार समेत)

सेनापति	अग्नि (शारीरिक)	अग्नि
सिपाही	मारुत् (प्राण)	वायु
ग्रामादिक	कंठ आदि स्थान	अंतरिक्ष
मुख्य सभ्य	मुख	आकाश
द्विज (ब्राह्मणादि)	द्विज (दंतपंक्ति)	ज्ञानी (संत)
राजाकी घोषणा	शब्द (आत्माका संदेश)	वेद (शब्द प्रमाण)

इसीलिये कहते हैं, कि शब्द '**महान् देव**' है और बड़ा शक्तिशाली है। जिस शब्दमें '**आत्मा–बुद्धि–मन**' की सब शक्तियां इकट्ठीं होतीं हैं, उसकी शक्तिका क्या वर्णन करना है ? प्रिय पाठको ! आप इस बात का स्मरण रखिये, और व्यर्थ शब्दका उच्चार न कीजिये, तथा किसी कारण भी आप बुरे शब्दोंका प्रयोग अथवा बुरे भावोंके साथ किसी प्रकारके शब्दोंका प्रयोग न कीजिये। यदि बुरे शब्दोंका प्रयोग करेंगे तो उसमें आपकाही नुकसान है। प्रतिशब्दके साथ आपकी बडी शक्ति खर्च हो रही है, इस लिये विचार करके ही पवित्र शब्दका उच्चार करते जाईये। स्मरण रहे कि, आपके शब्द आत्माका अमृत रस प्रकट करनेवाले हों, न कि राक्षसी विष फैलानेवाले। यदि यह विचार आपमें स्थिर रहा तो आप समझिये, कि आपसे कोई बुराई फैलेगी नहीं। इस वाणीके विषयमें वेद निम्न मंत्रमें जो उपदेश दे रहा है वह विचार करने योग्य है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदंति ॥ ऋ. १।१६४।४५

"(वाक्) वाणीके (परिमिता पदानि) परिमित पाद (चत्वारि) चार हैं (तानि) उनको (ये मनीषिणः ब्राह्मणाः) जो मननशील ज्ञानी हैं वेही (विदुः) जानते हैं। उनमेंसे (त्रीणि) तीन पाद (गुहा) बुद्धिमें (निहिता) रखे होते हैं, वे (न इंगयन्ति) प्रकट नहीं होते। जो (वाचः तुरीयं) वाणीका चतुर्थ पाद है, उसीको मनुष्य (वदंति) बोलते हैं।"

वाणी चार स्थानोंमें विभक्त होती है। (१) मूलाधार चक्रसे आत्माबुद्धिकी शक्तिद्वारा जो मूल प्रेरणा होती है उसको "**परा**" कहते हैं। (२) वही "**परा वाणी**" जब हृदयमें आती है तब उसको "**पश्यंन्ती**" नाम प्राप्त होता है, क्योंकि योगियोंको इसका साक्षात्कार होता है। (३) हृदयसे ऊपर चलकर जब उसका कंठतक जानेका प्रयत्न होता है, तब उसको ही "**मध्यमा**" कहते हैं, और (४) कंठके बाहिर जब आती है अथवा कंठादि स्थानोंमें जो व्यक्त होती है उसको "**वैखरी**" नाम होता है। यही "**वैखरी वाणी**" सब मनुष्य बोलते हैं। बोलनेके जो शब्द हैं वे इसी वैखरी वाणीके हैं। जो अन्य तीन प्रकारकी वाणी है वह गुप्त है और यही एक प्रकट वाणी है।

आत्मा, बुद्धि	....	परा वाणी	गुप्त शब्द
मन, अग्नि	....	पश्यन्ती ,,	
प्राण, मारुत्	....	मध्यमा ,,	
कंठादिस्थान—		वैखरी ,,	(प्रकट भाषा)

इस रीतिसे चार प्रकारका शब्द है, उसके तीन भाग गुप्त हैं और चतुर्थ भागही प्रकट है। मनकी शक्तिको ठीक प्रकारसे जाननेवाले ज्ञानी योगी " **पश्यंती और मध्यमा** "को जान सकते हैं। परंतु जो " **परा** " नामक आत्मा और बुद्धिके साथ संबंध रखनेवाला वाणीका भाग है उसको जाननेवाले क्वचित् कोई होते हैं।

आत्माके अंदर भाव और उनको व्यक्त करनेके लिये शब्दकी शक्ति निरंतर है। जब वह बोलता नहीं, उस समयमें भी उसके अंदर भाव रहते ही हैं और उन भावोंको व्यक्त करनेकी शब्दशक्ति रहती ही है; इसी कारण जहां आत्मा है वहां शब्दशक्ति गुप्त रीतिसे अथवा प्रकट रीतिसे है। जब वह बोलना चाहेगा तब वह मन आदिकोंके द्वारा शब्द प्रकट करेगा, जब चुप रहना चाहेगा तब वह चुप अंदरही अंदर सोचता रहेगा। सोचनेके समयका जो अनुभव है, उसको यदि पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा, कि मनके अंदर भी जो विचार होता रहता है, वह अत्यंत गुप्त होनेपर भी शब्दों द्वाराही होता है। कोई विचारी मनुष्य शब्दोंके विना विचार करही नहीं सकता। तात्पर्य जो मुखसे व्यक्त होता है उसीको शब्द न समझिये, जो मनमें विचारके समय गुप्त रीतिसे विचारा जाता है वह भी शब्दही है। क्योंकि मनको आज्ञा करनेके पूर्व ' **आत्मा बुद्धि** ' में जब अपने भाव व्यक्त करनेकी इच्छा होगई तभी शब्दोंकी योजना हो चुकी है। तात्पर्य मन अपने शब्द घडता नहीं है, आत्मा अपने भाव जिन सूक्ष्म शब्दोंद्वारा मनके

हवाले करता है, उनका नाम ' **पर-शब्द** ' किंवा ' परा वाणी ' है। मन इस आज्ञाका वाहक है। यदि पाठक इस प्रकार विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि शब्दका विचार कितना सूक्ष्म है। " **आत्माका निश्वासित ही शब्द है।** " इतनी इस शब्दकी योग्यता है। मूल शब्द निराकार ही है, अक्षरके लिये कोई आकार नहीं है। आत्मा, बुद्धि, मन, अग्नि, मारुत, कंठ आदि स्थानों और मुख आदि साधनोंके द्वारा जो उक्त चार प्रकारसे प्रकट होता है वह यद्यपि ' **महान् देव** ' है, तथापि वह निराकार ही है। " **अ, इ, ऋ, लृ, उ,** " आदि सब अक्षरोंका वास्तविक कोई आकार नहीं है। यह " **अक्षर ब्रह्म** " किंवा " **शब्द ब्रह्म** " वास्तविक निराकारही है परंतु इसको कागज पर स्थिर करनेके लिये साकार अक्षरोंकी योजना की है। देवनागरी वर्णमालामें " अ, इ, उ, " आदि चिन्होंसे, अंग्रेजी वर्णमालामें " A (ए), I (आय्), U (यू) " आदि चिन्हों तथा अन्य भाषाओंकी वर्णमालामें अन्य चिन्होंका उपयोग किया जाता है। वास्तविक निराकार शब्दोंके ये चिन्ह नहीं हैं, परंतु ज्ञान प्रचारकी सुविधाके लिये इन साकार चिन्होंका उपयोग करना ही पडता है। इसलिये यहां कोई यह न समझे कि येही वास्तविक रीतिसे शब्दोंके चिन्ह हैं। ये चिन्ह काल्पनिक हैं, और उनका शब्दों अथवा अक्षरोंके साथ संबंध कल्पनासे ही माना है। इसीलिये हरएक भाषामें भिन्न चिन्होंका प्रयोग होता है।

पाठ २

(पुल्लिंग) इन्नन्त शब्दके रूप ।

'मेधाविन्' शब्दके सातों विभक्तियोंके रूप निम्न प्रकार होते हैं। **मेधा=बुद्धि । मेधाविन्=बुद्धिमान् ।**

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
१ प्रथमा	मेधावी	मेधाविनौ	मेधाविनः
० संबोधन	(हे) मेधाविन्	,,	,,
२ द्वितीया	मेधाविनं	,,	,,
३ तृतीया	मेधाविना	मेधाविभ्यां	मेधाविभिः
४ चतुर्थी	मेधाविने	,,	मेधाविभ्यः
५ पंचमी	मेधाविनः	,,	,,
६ षष्ठी	,,	मेधाविनोः	मेधाविनां
७ सप्तमी	मेधाविनि	,,	मेधाविषु

(१) **एकवचन**में पंचमी षष्ठीके एकवचनके रूप समान होते हैं। (२) **द्विवचन**में प्रथमा संबोधन और द्वितीयाके द्विवचनीरूप एक जैसे होते हैं, तथा तृतीया चतुर्थी पंचमीके समान रूप हैं, और षष्ठी सप्तमीके एकसे हैं। (३) **बहुवचन**में प्रथमा संबोधन और द्वितीया विभक्तियोंके बहुवचनके रूप समान हैं, चतुर्थी पंचमीके बहुवचनी रूप एक जैसे हैं। पाठक यदि इस समानताको ही ध्यानमें रखेंगे, तो उनके बहुत परिश्रम बच सकते हैं।

इस शब्दके समान निम्न शब्दोंके रूप होते हैं। पाठक निम्न शब्दोंमेंसे दो तीन शब्दोंके रूप बनाकर कागजपर लिखें।

शब्द

उक्थशंसिन } प्रंशसा करनेवाला
उक्थिन् }

अद्वयाविन्—निष्कपट, सीधा; जो मनमें दो भाव नहीं रखता।

अभिव्याधिन्—आघात करने वाला,

अभ्यावर्तिन—पास आनेवाला

कपर्दिन्—जिसके सिरपर केश हैं

केवलादिन्—दूसरेको न देकर स्वयं अकेला भोजन करनेवाला

ब्रह्मचारिन्--ब्रह्मचर्य पालन करने वाला

मायिन्—कुटिल, कुशल

वर्चस्विन्--तेजस्वी

सत्यवादिन्--सत्य बोलनेवाला

गाथिन्--गायक

पतत्रिन्--पक्षी, अग्नि, बाण, उडने वाला

पाशिन्--पाश धारण करनेवाला

फलिन्--फलसे युक्त

ब्रह्मवादिन्--ब्रह्मविचार करनेवाला

मनीषिन्--बुद्धिमान्

वज्रिन्--हाथमें हथियार धारण करने वाला

व्रतचारिन्--नियम पालन करनेवाला

शुष्मिन्—बलवान्

अब इनका उपयोग मंत्रोंमें किस प्रकार हुआ है देखिये—

(१) **तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु।** (य. ३२।१४) हे अग्ने ! (तया मेधया) उस मेधा बुद्धिसे (अद्य) आज (मां मेधाविनं कुरु) मुझे बुद्धिमान करो।

(२) **नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः । नृभिः सुवीर उच्यसे ॥** (ऋ. ६।४५।६)=(द्विषः अति नयसि) शत्रुओंको

भगा देता है, सबको (उक्थ–शंसिनः कृणोषि) प्रशंसा करनेवाले बनाता है, इसलिये (नृभिः) मनुष्य तुम्हें (सु–वीरःउच्यसे) उत्तम वीर कहते हैं।

(३) प्रवामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः । (ऋ. ३।१२।५)=(जरितारः) उपासक (नीथा-विदः) गायक अथवा नेतृत्व जाननेवाले (उक्थिनः) ईशस्तुति करनेवाले (वां प्र अर्चन्ति) आपकी पूजा करते हैं।

(४)

ते सूनवः स्वपसः सुसंदृशो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये ॥ स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः ॥

ऋ. १।१५९।३

(ते सु–अपसः) वे उत्तम पुरुषार्थ करनेवाले (सु-संदृशः सूनवः) सुंदर पुत्र हैं, जिन्होंनें (पूर्व–चित्तये) पूर्ण भक्तिके कारण (मही मातरौ) बडी माताओंकी (जज्ञुः) प्रसिद्धी की। आप (स्थातुः च जगतः च) स्थावर जंगमके (धर्मणि) धर्ममें (अ-द्वयाविनः पुत्रस्य) निष्कपट पुत्रके (सत्यं पदं पाथः) सत्य स्थानकी रक्षा करते हैं।

(५) मा नो विदन् वि व्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्। (अथ. १।१९।१)=(नः) हमको (वि व्याधिनः) हमला करनेवाले (मा विदन्) न जानें तथा (अभि व्याधिनः मा उ विदन) आघात करनेवाले न जानें।

(६) **नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च ।** (य. १६।२९)= सिरपर केश धारण करनेवालेके लिये नमस्कार, तथा सिर मुंडवाने वालेको नमस्कार ।

(७)

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ॥ नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ऋ. १०।११७।६

उस (अ-प्र-चेताः) निर्बुद्ध मनुष्यको (अन्नं मोघं विंदते) अन्न व्यर्थ ही प्राप्त होता है । मैं सत्य कहता हूं कि (स तस्य वधः इत्) वह उसका वधही है । जो (अर्यमणं न पुष्यति) श्रेष्ठ मनुष्यको नहीं सहाय करता और (नो सखायं) न मित्रको मदत करता है, वह (केवल–आदी) स्वार्थी स्वयंही भोग भोगनेवाला (केवल-अघः) केवल पापकी मूर्तिही (भवति) होता है ।

(८) **इंद्रमिद् गाथिनः ।** (ऋ. १।७।१)= इंद्रकी स्तुति गायक गाते हैं ।

(९) **अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिरर्णसो निरुपस्थात् ।** (ऋ. ६।६२।६)=(अ–रेणुभिः योजनेभिः) जहां धूलि नहीं है ऐसे अंतरिक्षके स्थानोंसे (पतत्रिभिः) उडनेके यंत्रोंके साथ (अर्णसः उपस्थात्) समुद्रके ऊपरसे आपने उसका (निः भुजन्ता) सेवन किया है । अर्थात् उसको बचाया है ।

(१०) **ब्रह्मचारी चरति वेविषद् ।** (ऋ. १०।१०९।५)= ब्रह्मचारी (वेविषत्) कर्तव्य पालन करता हुआ (चरति) चलता है ।

(११) युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः । (ऋ. १।३९।२)=(युष्माकं) आपकी (तविषी) शक्ति (पनीयसी) विलक्षण (अस्तु) होवे परंतु (मायिनः मर्त्यस्य मा) कुटिल मनुष्यके पास शक्ति न रहे ।

(१२) येन देवा देवतामग्र आयन्, तेन मामद्य वर्चसा वर्चस्विनं कृणु । (अथ. ३।२२।३)= जिससे देव देवत्वको पहिले प्राप्त हुए, उस तेजसे (मां अद्य) मुझे आज तेजस्वी करो ।

(१३) प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आदधत् । (अथ. ११।६।११)= प्राण निश्चयसे सत्यवादीको उत्तम लोकमें आधार देता है ।

(१४) पदे पदे पाशिनः संति । (अथ. ९।६।३)= स्थान स्थानमें पाश धारण अर्थात् प्रतिबंध करनेवाले हैं ।

(१५) ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः । (अथ. ३।५।६)= जो बुद्धिवान, रथकर्ता, लुहार और जो मनन-शील लोग हैं ।

(१६) तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा इंद्रस्य वज्रिणः । (अथ. २०।७०।१३)=(उत्तरे) उच्च (तुंजे) स्थान स्थानमें (ये) जो हैं वे वज्रधारी इंद्रके स्तोमही हैं ।

(१७) संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः । (अथ ४।१५।१३)=वर्षपर्यंत शांत रह कर ब्राह्मण व्रतका आचरण करते हैं ।

(१८) ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् छुष्मी राजा ।

(अथ. २०।१२।७)= फूर्तिला, वज्रधारी, श्रेष्ठ, चपल, (शुष्मी) बलिष्ट राजा है।

(१९) **बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः** । (अथ. ९।४।८)= (एतं सं-भृतं) इस उत्तम भरण कर्ताको बृहस्पति वे कहते हैं जो धीर कवि और मननशील होते हैं।

(२०) **अनेनासुरान् पराभावयन् मनीषी** । (अथ. ८।९।३)= ज्ञानी इससे असुरोंका पराभव करता है।

(२१) **यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः** । (अथ. १२।१।८)= ज्ञानी जिस भूमिकी (मायाभिः) कुशलताओंके साथ (अनुअचरन्) सेवा करते हैं।

जो शब्द ऊपर दिये हैं, वे इन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुए हैं। पाठक उन शब्दोंके रूप इन मंत्रोंमें देखें और पहचानें कि किस किस विभक्तिके ये रूप हैं। तथा इन शब्दोंके संपूर्ण विभक्तियोंके रूप बनानेका अभ्यास करें। पाठक यदि इस प्रकार करते जांयगे तो उनको नामोंके रूप बनाना बडा सुगम होगा। और एक समय नामोंकी विभाक्तियां पहचाननेका अभ्यास होगया, तो मंत्रका अर्थ जाननेकी बडी कठिनता दूर हो जायगी।

पाठ ३

(१)

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ॥ तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अ-वीर-हा ॥

अथर्व. १।१६।४.

पद–यदि । नः । गां । हंसि । यदि । अश्वं । यदि । पुरुषं । तं । त्वा । सीसेन । विध्यामः । यथा । नः । असः । अ–वीर–हा ॥

अन्वय–यदि नः गां हंसि । यदि नः अश्वं हंसि । यदि नः पुरुषं हंसि । तं त्वा सीसेन विध्यामः । यथा नः अ–वीर–हा असः ॥

अर्थ–यदि तू (नः) हमारी गौका (हंसि) हनन करेगा । यदि हमारे घोडेका हनन करेगा । यदि हमारेमेंसे किसी (पुरुषं) मनुष्यका वध करेगा । तो (तं त्वां) तुझे (सीसेन) सीसेसे (विध्यामः) वेध करेंगे । (यथा) जिससे (नः) हमारे (अ–वीर–हा) वीरोंका घात न करनेवाला (असः) हो जाओगे ॥

भावार्थ–हे दुष्ट मनुष्य! यदि तू हमारी गौ, हमारे पशु और मनुष्य आदिका वध अथवा नाश करोगे, तो तुमको सीसेकी गोलीसे ऐसा मार देंगे कि जिससे तू हमारेमेंसे किसीका भी आगे नाश नहीं कर सकोगे ।

जिस प्रकार मनुष्यका वध करनेवाला दंडके लिये योग्य है उसी प्रकार गौ, घोडा आदि उपयोगी पशुका वध करनेवाला भी दंडनीयही है । अपराधी गुन्हेगारको ऐसा दंड देना चाहिये कि जिससे वह फिर उस प्रकारका गुन्हा न कर सके ।

संधि—(१) विसर्गका 'ओ' बना है । नः+गां=नो गां । विध्यामः+यथा=विध्यामो यथा । नः+असः+अवीरहा=नोऽसो अवीरहा ॥ (२) इकारका 'य' बना है । यदि+अश्वं=यद्यश्वं ।

इस मंत्रमें **'विध्यामः'** क्रिया है। इसका अर्थ=निशाना मारना, चांदमारीके चिन्हपर ठीक गोली चलानी, है। शत्रूके ठीक स्थानपर सीसेकी गोली या गोला चलाना। यह जैसा युद्धमें तथा स्वसंरक्षणके समय भी आवश्यक है।

(२)

विष्वंचो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः॥
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥"

अथर्व. १।१९।२

पद—विष्वंचः। अस्मत्। शरवः। पतन्तु। ये अस्ताः। ये। च। अस्याः। दैवीः। मनुष्य–इषवः। मम। अमित्रान्। वि। विध्यत॥

अन्वय—ये अस्ताः ये च अस्याः शरवः अस्मत् विष्वंचः पतन्तु। दैवीः मनुष्येषवः मम अमित्रान् वि विध्यत॥

अर्थ—(ये) जो (अस्ताः) फेंके हैं, और जो (अस्याः) फेंकनेके हैं, वे (शरवः) बाण (अस्मत्) हमारेसे (विष्वंचः) चारों ओर (पतन्तु) पडें। (दैवीः) दैवी शक्तिसे युक्त (मनुष्य-इषवः) हम मनुष्योंके बाण (मम अ–मित्रान्) मेरे शत्रुओंके ऊपर (वि विध्यत) वेध करें। अर्थात् ठीक शत्रुओंपर ही गिरें और इधर उधर न गिरें।

भावार्थ—हमारे शस्त्र शत्रुओंका ठीक नाश करें और इधर उधर न जांय।

संधि—(१) विर्सग का ' ओ ' बना है । विष्वंचः+अस्मत् =विष्वंचो अस्मत् । इषवः+मम=इषवो मम । (२) ' त ' का ' च ' बना है । अस्मत्+शरवः=अस्मच्छरवः । इसमें ' श ' का ' छ ' भी बना है । (३) विसर्गका लोप हुआ है । अस्ताः+ये=अस्ता ये । (४) विसर्ग का ' र ' बना है । दैवीः+मनुष्य०=दैवीर्मनुष्य० ॥

समास—मनुष्येषवः=मनुष्याणां इषवः [मनुष्योंके इषु] इसको ' षष्ठी तत्पुरुष ' समास कहते हैं । अमित्रः=न मित्रः [जिसको मित्र नहीं हैं । इसको ' नञ् तत्पुरुष ' समास कहते हैं ।

(३)

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ॥
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥

अथर्व. १।२९।२

पद—अभि-वृत्य । स-पत्नान् । अभि । याः । नः । अ-रातयः । अभि । पृतन्यन्तं । तिष्ठ । अभि । यः । नः । दुः-अस्यति ॥

अन्वय—सपत्नान् अभिवृत्य अभि तिष्ठ । नः याः अरातयः तान् अभितिष्ठ । पृतन्यंतं अभितिष्ठ । यः नः दुरस्यति तं अभितिष्ठ ।

अर्थ—(स-पत्नान्) शत्रुओंको (अभि वृत्य) घेर कर (अभि तिष्ठ) पराजित करो । हमारेमें जो (अ-रातयः) दुष्ट हैं उनका पराजय करो । (पृतन्यन्तं) जो सैन्यसे चढाई करता है उसपर चढाई करो । तथा जो हमको (दुःअस्यति) बुरी अवस्थामें फेंकता उसको भी दंड करो ।

भावार्थ—शत्रु, दुष्ट, घात पात करनेवाले और सैन्यसे चढाई करनेवाले जो होंगे उन सबोंको पराजित करो।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **स–पत्न**=एक स्वामीकी आधीनतामें रहनेवाले जो दो पक्ष होते हैं वे परस्पर सपत्न होते हैं, परस्पर स्पर्धाके कारण इनमें शत्रुत्व होता है । (२) **अ–रातिः** दान देनेवाले अथवा सहायता करनेवालेको **'राति'** कहते हैं। जो दान नहीं देता, जो सहायता नहीं करता, जो परोपकार नहीं करता तथा जो दूसरोंके धन, भूमि, राष्ट्र आदिका हरण करता है उसको **'अ–राति'** कहते हैं। [सायणभाष्य—**अरातयः अस्मदीयं राष्ट्रधनादिकं अपहृत्य शात्रवं कुर्वाणा बाह्याः शत्रवः**] जो धनादिका हरण करके शत्रुत्व करनेवाले बाहिरके शत्रु होते हैं वे **'अ–राति'** होते हैं। (३) **पृतन्यंतं** 'पृतना' का अर्थ 'सैन्य' है। सैन्यको साथ लेकर हमला करनेवाला जो होता है, वह शत्रु इस शब्दसे बोधित होता है । (४) **दुरस्यति**='दुः' का अर्थ 'बुरी अवस्था'। 'अस्यति' का अर्थ 'फेंकता है।' जो बुरी अवस्थामें फेंकता है उस शत्रुका वर्णन यह शब्द करता है।

इनमें **'स–पत्न'** शब्द आंतरिक शत्रुओंका बोध करता है। **'अ–राति'** शब्द बाहिरके शत्रुका भाव बताता है। **'पृतन्यन्'** शब्द सैन्यवाले राष्ट्रीय शत्रुका आशय व्यक्त करता है और **'दुरस्यन्'** शब्द हरएक प्रकारके घातपात आदि करनेवाले चलाख शत्रुका स्वभाव बता रहा है।

संधि—नः+अरातयः=नो अरातयः । यः+नः+दुरस्यति=यो नो दुरस्यति । तिष्ठ+अभि=तिष्ठाभि । दुः+अस्यति=दुरस्यति ।

(४)

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुते दमुक्तम् ॥ सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अथर्व. १।३०।२

अर्थ—(ये) जो (वः) आपमें (देवाः) देव (पितरः) पितर और जो पुत्र हैं, वे (स-चेतसः) दत्तचित्त हो कर (मे इदं उक्तं) मेरा यह भाषण (शृणुत) सुनें । (वः सर्वेभ्यः) आप सबोंके लिये (एतं) इसको (परि) सब प्रकारसे (ददामि) मैं देता हूं, (स्वस्ति) सुरक्षित होकर (एनं) इसको (जरसे) वृद्धावस्थातक (वहाथ) ले जाईये ।

संधि—वः+देवाः=वो देवाः । पितरः+ये=पितरो ये। चेतसः+मे =चेतसो मे । सर्वेभ्यः+वः=सर्वेभ्यो वः । शृणुत+इदं=शृणुतेदं । ददामि+एनं=ददाम्येनं । स्वस्ति+एनं=स्वस्त्येनं ।

पाठ ४.

शब्द अर्थका संबंध ।

आत्माका भाव मनद्वारा हृदयस्थानीय वायुके आघात कंठ आदि स्थानोंमें होकर शब्दरूपसे प्रकट होता है । और उसका कर्णेंद्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। शब्दकी प्रत्यक्षता कानोंसेही होती है । जो आत्माका भाव पहिले अप्रत्यक्ष था वही शब्द रूपमें प्रकट होनेके

पश्चात् प्रत्यक्ष होने लगता है। जब आत्माका अप्रत्यक्षभाव मनमें उतरता है, तब वहांही वह भाव घनरूप अथवा स्थूलसा बनता है, इसी कारण मनमें " **शब्द अर्थ और संबंध** " निश्चयरूपसे रहता है तथा उस कल्पनाका मूर्तिमान् चित्र भी बहुत अंशमें मनके सामने प्रत्यक्षसा होने लगता है। मनके अंदर सूर्य, चंद्र, जगत्, मनुष्य, वृक्ष, त्रिकोण चतुष्कोण आदिकी मूर्तिमान् कल्पना है, इसलिये हरएक शब्दका उच्चार करनेके पूर्व भी मनके सन्मुख उसका चित्र खडा होता है। मनमेंही जब किसी प्रकारका विचार चलता है तब वह अनुच्चारित शब्दोंके साथही चलता है, इसका अनुभव हरएकको है। शब्दके विना विचार करना अशक्य है, तथा जब किसी पुरुषार्थ करने आदिका विचार स्थिर हो जाता है, तब मनके सन्मुख एक प्रकारका " **गुप्त-चित्र** " रहता है। यदि मानसिक कल्पनाशक्ति प्रबल रही, तो उस चित्रकी प्रत्यक्षता भी हो जाती है। स्वप्नमें जो कल्पनाके चित्र खडे हो जाते हैं, उनका भी उक्त प्रकारका ही संबंध है। " **जनन, मरण, हनन, पुरुषार्थ** " आदि जो शब्द हम सब उच्चारते हैं, उनके साथ एक एक कल्पनाका गुप्त चित्र हमारे मनमें होता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह चित्रोंको गुप्त रखनेवाला " **चित्र-गुप्त** " ही हमारे मनमें है। हरएक बातका चित्र बनाकर यह अपनेपास रख देता है और जिस किसी समय किसी शब्दका भाव मनमें लानेका यत्न किया जाता है, तब वह चित्र सामने कर देता है। दस वर्ष पूर्व जिसका दर्शन हुआ था उस

" **यज्ञदत्त शर्मा** "के नामका उच्चारण करतेही उसका मनमें प्रत्यक्ष दर्शन जो कराता है, वह आपके मनमें बैठा हुआ आपका " **चित्र गुप्त**" ही है ॥

इतनी बात यहां लिखनेका कारण यह है, कि **शब्द, अर्थ और संबंध** नित्य है। जहां शब्द है, वहां अर्थ है, और दोनोंका परस्पर संबंध स्पष्ट है, इसीलिये विना संदेह व्यवहार चल रहा है। यदि शब्दका अर्थके साथ संबंध न होगा, तो किसी वक्ताका कोई आशय श्रोताको समझेगा ही नहीं। '**अग्नि**' कहतेही "आग" की कल्पना होती है, तथा अन्य शब्दोंके साथ अन्य कल्पनायें आतीं हैं, इसी लिये मनुष्योंका वाग्व्यवहार चल रहा है। जिस दिन शब्दका अर्थके साथ संबंध नष्ट होगा, उसी दिन बोलनाही बंद होगा। परंतु वैसा कभी होना नहीं है। क्यों कि शब्दका आत्माके साथ संबंध है।

आत्माके भाव भाषाद्वारा प्रकट होते हैं। भाषामें वाक्य होते हैं, वाक्योंमें शब्द और शब्दोंमें अक्षर होते हैं, अर्थात् अक्षरोंसे शब्द बने हैं और उनके वाक्य बनकर सब भाषा बनी है, अर्थात् भाषाका मूल अक्षरोंमें है। यहां '**अक्षर**' शब्दका अर्थ देखिये—

(१) अ-क्षर-जो (क्षर) नाशको प्राप्त नहीं होता, जो अविनाशी, अक्षय और अमर है। इसके अन्य अर्थ ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, जीवात्मा, शब्दब्रह्म, आदि अनेक हैं।

'अक्षर' अविनाशी हैं। अमर अक्षरोंसे जो शब्द बने हैं, वे भी अमरही होने चाहिये। इसी लिये परमात्म–स्फुरित शब्दोंको तथा आप्त वचनोंको नित्य और प्रमाणभूत मानते हैं। शब्द आकाशका गुण है, इसलिये जबतक आकाश है तबतक शब्द है, इस दृष्टिसे भी शब्दका चिर–स्थायित्व व्यक्त होता है। अक्षर शब्दका दूसराभी एक अर्थ है वह निम्न प्रकार बताया जाता है।—

(२) **अक्ष–र**=(अक्ष) आंख जिसमें रमते हैं। पुस्तकों में शब्द लिखे होते हैं, और उसमें आप सबके आंख रम रहे हैं, इसीलिये आप पुस्तक पढते हैं और पढनेके पश्चात् उन शब्दोंद्वारा ज्ञान आपके पास पहुंचता है।

' **अक्षर** ' शब्दके ये दो अर्थ हैं। पहिले आशयका शब्द " **अ–क्षर** " ऐसा लिखना चाहिये, और दूसरे आशयका शब्द " **अक्ष-र** " ऐसा लिखना चाहिये। पहिला अर्थ शब्दोंका आत्मिक भाव बता रहा है और दूसरा अर्थ शब्दोंका स्थूल रूप बता रहा है।

हम सबको शब्दोंका विचार आत्मिकभावसे ही करना चाहिये, क्यों कि यह हमारा प्रयत्न ' **वेद–विद्या** ' प्राप्त करनेके लिये है और " **वेद आत्माकी ही विद्या है,** " इस लिये वेदमें जो सृष्टितत्वोंकी बातें आतीं हैं, वह भी " **आत्मिक शक्तिका आविष्कार** " ही है। तात्पर्य " अक्षरों " का अविनाशित्व मुख्यतया यहां देखना है। यदि अक्षर अविनाशी हैं, तो अविनाशी अक्षरोंसे बने

हुए शब्दभी अविनाशी ही हैं। यहां कई कहेंगे कि शब्दका उच्चार होते ही उसका आवाज नष्ट हो जाता है, फिर उसमें नित्यता कैसी मानी जा सकती है? यह शंका सत्य है, और आवाजकी दृष्टिसे शब्द अनित्यही है, उसमें जो नित्यता है वह आवाजकी नहीं है प्रत्युत आत्मिकभावकी है। उदाहरणके लिये देखिये कि वेदके '**पितृ, पिता, पितर्**' शब्द हैं, उसीके अन्य भाषामें बिगडकर अन्य शब्द बने हैं। अंग्रेजीमें इससे "(Father) फादर" बना है, परशियन भाषामें " पादर, " लातिन भाषामें (Pater) पातर, इसी प्रकार कई अन्य भाषाओंमें इसीके रूप हैं। इसी प्रकार "**मातृ, माता, मातर्**" शब्दोंके विकृत रूप अन्यभाषाओंमें इस समयमें भी दिखाई देते हैं। यदि पाठक अपनी देसी भाषाओंमें भी इस प्रकार समता देखेंगे, तो उनको उसी समय पता लग जायगा कि "**वैदिक-देव-भाषा**" के शब्दही अन्य भाषाओंमें फैले हैं। "**वैदिक-देव-भाषा**" के शब्द सर्वत्र सब भाषाओंमें विद्यमान होनेका तात्पर्य स्पष्टतासे यही है, कि इन शब्दोंका संबंध प्रारंभसे मानव जातीके साथ है। जिसप्रकार पशुपक्षियों की योनी के साथ उनके शब्द निश्चित हैं, उसी प्रकार मनुष्ययोनीके साथभी कुछ शब्द निश्चित हैं। येही "**मूल धातु**" हैं। इस समय संस्कृतमें जो धातु ह वे भी संख्यामें बढे हुए हैं। बहुधा प्रारंभिक मूल धातुओंकी संख्या तीन चार सौसे अधिक नहीं है। धातुओंका संबंध प्रत्येक योनीके मूल शब्दोंके साथ ह, इस लिये जितनीं योनियां हैं, उनके मूल शब्दभी नियत और चिरस्थायी ही हैं। कई योनियोंके

लिये एकही शब्द होगा और कईयोंके लिये अधिक शब्द होंगे। मनुष्य हरएक योनीमें से गुजरता है, इस लिये सब योनियोंके शब्द इसके लिये "निज-शब्द" ही हैं। तथा यह मनुष्य उन शब्दोंको तोड मरोडकर बढा सकता है, इस लिये मनुष्यकी भाषा बढ रही है। परंतु मूल प्रारंभिक धातु जितने थे उतने ही हैं।

जहां पृथ्वी है वहां पशुपक्षी और मनुष्यकी योनियांभी हैं। यद्यपि एक एक प्राणी मर जाता है तथापि योनी नित्य है। यदि योनी नित्य है तो उस योनीके शब्द भी नित्यही हैं। जबतक उस योनीके प्राणी रहेंगे तबतक वेह शब्द भी रहेंगे। कौवेका "कॉ,-कॉ" शब्द, मुर्गेका "कू-कु" शब्द, बकरीका "में-में" शब्द तथा अन्य पशुपक्षियोंके शब्द प्रत्येक योनिके साथ नित्य संबंध:रखनेवाले, और किसीके न बनाये हुए, हैं। इसीलिये जबतक सृष्टि विद्यमान है तबतक ये मूल शब्द नित्यही हैं।

पाठक यहाँ ध्यान दें और स्मरण रखें कि ये शब्द उस योनीमें विचरनेवाले आत्माके भाव व्यक्त करनेवाले हैं, इस लिये ये "आत्माके शब्द" हैं। ये आत्माके स्वयंस्फुरित स्वाभाविक शब्द हैं। मनुष्यमें वाक्शक्तिकी पूर्णता है, इस लिये सब योनीके शब्द मनुष्यही अपना सकता है, और उसने इसी कारण अपना ये भी हैं और भाषाका विस्तार किया है, कर रहा है और आगे भी करेगा। क्यों कि मनुष्यकी शक्तिही इसमें सर्वोपरि है।

परमात्माकी अद्भुत रचनासे इस सृष्टिमें विविध प्राणियोंकी विविध योनियां बनीं हैं और उसीकी कल्पनासे प्रत्येक योनीके शब्द निश्चित

हुए हैं। तात्पर्य इस दृष्टिसे इन शब्दोंका मूल संबंध परमात्मा तक जाता है। सत्यस्वरूप परमेश्वरकी सब कल्पना नित्य है, इसी लिये ये " **मूळधातु** " भी नित्य हैं। यही कारण है कि येही मूल धातु सब भाषाओंमें फैले हैं, और विविधरूप धारण करके विविध भावोंके प्रकाशक बने हैं!!

पाठक इस " **अक्षर ब्रह्म** "की यह लीला इस प्रकार देख सकते हैं और कल्पना कर सकते हैं कि वाग्देवीकी कितनी अद्भुत व्याप्ति है।

पाठ ५

(पुल्लिंग) सकारान्त ' **चंद्रमस्** ' शब्द ।

जिसके अंतमें ' स् ' है ऐसे शब्दोंके रूप इस पाठमें बताये जांयगे। नीचे चंद्रमस् शब्दके रूप दिये हैं, उनको देखनेसे सकरान्त शब्दोंके रूप बनानेकी रीति विदित हो सकती है।

१	चंद्रमाः	चंद्रमसौ	चंद्रमसः
सं०	(हे) चंद्रमः	"	"
२	चंद्रमसं	"	"
३	चंद्रमसा	चंद्रमोभ्यां	चंद्रमोभिः
४	चंद्रमसे	"	चंद्रमोभ्यः
५	चंद्रमसः	"	"
६	"	चंद्रमसोः	चंद्रमसां
७	चंद्रमसि	"	चंद्रमस्सु

पाठक इसमें समान रूपोंका ख्याल रखें। जो रूप समान होते हैं वहां (,,) ऐसा चिन्ह रख दिया है । अब इसीप्रकार जिन शब्दोंके रूप होते हैं, ऐसे सकारान्त पुल्लिंगी शब्द नीचे दिये हैं।

सकारान्त शब्द।

अग्निवासस्-अग्निके समान तेजस्वी वस्त्र धारण करने वाला.

अग्निभ्राजस्—अग्निके समान तेजस्वी.

अंगिरस्–अंगोंका रस, ऋषि.

अ–ह्रुतैनस्–पापसे मुक्त

अनप्नस्–कर्महीन, आलसी

अनवभ्रराधस्–भ्रष्ट न होकर सिद्धि प्राप्त करनेवाले।

अ-नष्ट-वेदस्–जिसका ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है ।

पुरुष–तेजस्–पुरुषका तेज

मनोजवस्–मनसे वेगवान्

सु–मनस्–उत्तम मनसे युक्त

रुक्मवक्षस्–छातीपर भूषण धारण करनेवाला

विश्वमनस्–सर्वत्र मन रखनेवाला

अनागस्, **अनेहस्** =निष्पाप

अमितौजस्=अपरिमित तेजस्वी

अ-प्र-चेतस्—अज्ञानी

जातवेदस्—जिससे ज्ञान होता है, अग्नि, आत्मा, परमात्मा।

अ-प्रजस्—प्रजाहीन

अ-राधस्—जो सिद्ध नहीं होता

प्रचेतस्–ज्ञानी

भूरिरेतस्–बहुत वीर्ययुक्त, बहुत जलसे युक्त

महा–मनस्–बडे मनसे युक्त

गंभीरचेतस्–गंभीर चित्तसे युक्त

वेधस्–सृष्टिकर्ता

विश्वमहस्–सर्वत्र बडे सामर्थ्यसे युक्त

ये शब्द पूर्व स्थानमें दिये हुए चंद्रमस् शब्दके समानही रूप बनाते हैं। पाठक इनमेंसे २,३ शब्दोंके रूप बनाकर कागजपर लिखें और पूर्व दिये चंद्रमस् शब्दके रूपोंके साथ तुलना करके देखें। अब उक्त शब्दोंका प्रयोग जिनमें है ऐसे मंत्र नीचे देता हूं।

(१) **अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ।** (ऋ. ५।५४।११)=(गभस्त्योः) दोनों हाथोंके (विद्युतः) तेज अग्निके समान हैं और (हिरण्ययीः शिप्राः) सुवर्णके शिरस्त्राण (शीर्षसु वितताः) सिरोंपर रखे हैं।

(२) **सोंऽगिरसां पाशान्मा मोचि ।** (अथ. १६।८।१४)= वह अंगरसोंके पाशोंसे मुझे छोडे ।

(३) **दीर्घं पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्वा महः शर्धांस्यद्भुतैनसाम् ।** (ऋ. ५।८७।७)=(येषां) जिनका (पार्थिवं सद्म) पृथिवीके ऊपरका मकान अति दीर्घ और विस्तृत (आ पप्रथे) फैला है तथा (अ-द्भुतैनसां) निष्पापियोंके (अज्मेषु) गमन-स्थानोंमें (महः शर्धांसि) बडे बल होते हैं।

(४) **या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभि सन्ति जंभया ता अनप्नसः ।** (ऋ-२।२३।९)=(याः नः दूरे अरातयः) जो हमारे दूर शत्रु हैं और (याः तळितः) जो पास होकर (अभि सन्ति) हमला करनेके लिये आते हैं (ताः अनप्नसः) उन पुरुषार्थ हीन शत्रुओंका (जंभय) नाश करो ।

(५) पृषदश्वासो अनवभ्रराधस ऋजिप्यासो न वयुनेषु धूर्षदः । (ऋ. २।३४।४)=(पृषद्-अश्वासः) जिनके घोडोंपर पसीना आया है, (अन्-अवभ्र-राधसः) जो सिद्धिके लिये कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होते, (ऋजि-प्यासः) जो सीधे होते हैं तथा जो (वयुनेषु धूः-सदः न) दौडमें आगे चलनेवालोंके समान सदा अग्रभागमें होते हैं ।

(६) शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसं । ईशानं राय ईमहे । (ऋ. ६।५४।८)=(शृण्वंतं) प्रार्थना सुननेवाले, पोषण करनेवाले (इर्यं) प्रेरक (अ-नष्ट-वेदसं) ज्ञान संपन्न अथवा धन संपन्न ईश्वरकी (राये) धनके लिये (वयं ईमहे) हम उपासना करते हैं ।

(७)

उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः सानुको वृकः । बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि ॥ ऋ. २।२३।७

(उत वा) अथवा जो (वृकः मर्तः सानुकः अरातीवा) हिंसक मनुष्य उच्च स्थानपर चढता हुआ शत्रु बनकर (अन-आगसः नः) हम निष्पापीयोंको (मर्चयात्) दुःख देगा । हे बृहस्पते ! (तं) उसको (पथः अप वर्तय) उस मार्गसे दूर करो और (अस्यै देव-वीतये) इस दिव्य कर्मके लिये (नः सुगं कृधि) हमारा मार्ग सुकर करो ।

(८) **अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः ।** (ऋ. ९।६९।९) =(अनेहसः) निष्पाप, (ऊतयः) सुरक्षित तथा (वरुण–शेषसः) दुःखनिवारक पुत्रोंके समेत रहकर (त्वा सत्रा) तेरे साथ रहेंगे । [वरुण=निवारक । शेषः—पुत्र (सायनभाष्य)]

(९) **पुरां भिंदुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।** (ऋ. १।११।४)=शत्रुकी पुरियोंका (भिंदुः) भेदन करनेवाला जवान कवि (अ-मित-ओजाः) अपरिमित तेजस्वी हुआ है ।

(१०) **स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवद प्रचेताः ॥** (ऋ-१०।७।६)=हे देव ! स्वयं तू (दिवि देवान् यजस्व) द्युलोकमें रहने वाले देवोंका यज्ञ करो । (अ-प्र-चेताः पाकः) अविचारी अज्ञानी (ते किं कृणवत्) तेरे लिये क्या करेगा ?

(११) **उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।** (ऋ. १। ५०।१)=(केतवः) ज्ञानके किरण अथवा ध्वज (त्यं जात-वेदसं देवं) उस ज्ञान फैलाने वाले देवको (उत् वहंति) ऊपर उठाते हैं अर्थात् बताते हैं ।

(१२) **कदा मर्तमराधसं पदा क्षुंपमिव स्फुरत् ।** (ऋ. १।८४।८)=(अ-राधसं मर्तं) पुरुषार्थ हीन मनुष्यको (कदा स्फुरत्) तत्क्षण में गिराता है जैसा (क्षुंपं इव पदा स्फुरत्) सोनेवालेको जैसा पांवसे मार सकते हैं ।

(१३) **सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।** (अथ -१०।

९।३९)=शत्रुनाश करनेवाला प्राणके बलसे युक्त और पुरुषार्थके तेजसे युक्त है।

(१४) **मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु।** (य. ९।११)= मनके वेगसे युक्त तुझे पितरोंके साथ दक्षिणसे वह रक्षा करे।

(१५) **सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।** (य. ३।४१)=उत्तम मनसे युक्त, बुद्धिमान और मनसे आनंदित होकर मैं (गृहान् ऐमि) घरोंके पास पहुंचता हूं।

(१६) **रुक्मवक्षसः ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः।** (ऋ. ९।९९।१)=छातीके ऊपर अलंकार धारण करनेवाले वीर (सु-यमेभिः) उत्तम स्वाधीन (आशुभिः अश्वैः) चपल घोडोंके साथ (ईयंते) जाते हैं।

(१७) **युजा कर्माणि जनयन् विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट्।** (ऋ. १०।५५।८)=(विश्व-ओजाः) बलवान (अ-शस्ति-हा) अप्रशस्तको दूर करनेवाला (विश्व-मनाः) सर्वत्र ध्यान रखनेवाला (तुराषाट्) फूर्तिला वीर (युजा) योग्यके साथ कर्म (जनयन्) करता है।

(१८) **कालो अश्वो वहति सप्त-रश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।** (अथ. १९।५३।१)=(भूरि-रेताः) बहुत शक्तिशाली, अजर, सहस्र आंखोंसे युक्त, सात किरण जिसमें हैं ऐसा कालरूपी अश्व अर्थात् सूर्य इस विश्वको (वहति) उठाता है।

इस प्रकारके मंत्रोंमें पूर्वोक्त शब्दोंके रूप देखिये । और उन रूपोंका अर्थ किस प्रकार होता है इस ओर ध्यान दीजिये । इसी प्रकार सकारांत पुल्लिंग शब्दोंके रूप होते हैं । यदि पाठक प्रत्येक मंत्र ध्यानके साथ पढेंगे तो उनको कोई कठिनता प्रतीत नहीं होगी ।

पाठ ६

(१)

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ॥ विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ अथर्व. १।३१।४

अर्थ—(नः मात्रे स्वस्ति अस्तु) हमारी माताके लिये स्वास्थ्य प्राप्त हो । (उत) और (नः पित्रे स्वस्ति अस्तु) हमारे पिताके लिये आरोग्य प्राप्त हो । (गोभ्यः) गौवोंके लिये, (पुरुषेभ्यः) सब मनुष्योंके लिये तात्पर्य (जगते) सब जगत्‌के लिये (स्वस्ति) कुशल प्राप्त हो (वः) हमारा (विश्वं) सब जगत् (सु-भूतं) स्वस्थ और (सु-विदत्रं) उत्तम ज्ञानसे युक्त (अस्तु) हो । (ज्योक् एव) चिरकाल सूर्यका (दृशेम) दर्शन करेंगे ।

भावार्थ—माता, पिता, पशु, सब मनुष्य, संपूर्ण जगत् स्वस्ति शांति और अभयसे युक्त हो । किसीको कोई क्लेश न हो । सब मनुष्यमात्र कुशलतापूर्वक कर्म करनेवाले और उत्तम ज्ञानसे युक्त हों । और सूर्यप्रकाशमें विचरते हुए हम अति दीर्घ आयु प्राप्त करें ।

संधि—नः+अस्तु=नो अस्तु । गोभ्यः+जगते=गोभ्यो जगते । सु+अस्ति=स्वस्ति । ज्योक्+एव=ज्योगेव ।

शब्दोंका विशेष अर्थ-(१) स्वस्ति ।-[स्वस्ति इति अविनाशि नाम । अस्तिः अभिपूजितः सु अस्ति इति । निरु. ३।२१] स्वस्तिका अर्थ अविनाशी । उत्तमतासे रहना, होना, बनना स्वस्ति होता है । (सु) उत्तम (अस्ति) है=जो उत्तम होता है वह सब स्वस्ति कहलाता है । यहीभाव (२) '**सु–भूतं**=शब्द द्वारा बताया है । (सु) उत्तम रीतिसे जो (भूतं) होता है वह 'सु–भूतं' है । उत्तम अवस्थामें होना, रहना, बनना । (३) **विश्व**=का अर्थ 'सब, धन, जगत्' आदि है । (४) **सु–विदत्रं=[सुविदत्रः कल्याणविद्यः** । निरु. ६।१४] (सु) उत्तम (विदत्रं) ज्ञान जिसके पास होता है, जिसने हितकारक विद्याका अध्ययन किया है । [**सु–विदत्रं धनं भवति, विंदतेर्वा एकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्यात् द्व्युपसर्गात्** । निरु. ७।९] सुविदत्रका अर्थ धन होता है । '**सु–विंद्**' धातुसे यह शब्द बनता है, इसका अर्थ=उत्तम प्रकारसे जो प्राप्त होता है । अथवा '**सु-वि-दा**' धातुसे भी बनता है, इसका अर्थ जो उत्तम प्रकारसे और विशेष रीतिसे दिया जा सकता है । धन अथवा ज्ञान यह इसका आशय है ।

(२)

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति ॥ न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥

अथर्व. १।३२।१

अर्थ—हे (जनासः) लोगो ! (इदं विदथ) यह जानो। आदिगुरु (महत् ब्रह्म) बडे ब्रह्मके विषयमें (वदिष्यति) कहेगा। (येन) जिससे (वीरुधः) औषधियां आदि (प्राणन्ति) जीवित रहते हैं (तत्) वह (न पृथिव्यां) पृथ्वीपर नहीं है और (नो दिवि) द्युलोकमें भी नहीं है।

सांधि—जनासः+विदथ=जनासो विदथ। महत्+ब्रह्म=महद्ब्रह्म।

(२)

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः॥ या अग्निं गर्भं दाधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ अथर्व. १।३३।१

अर्थ—(हिरण्य-वर्णाः) तेजस्वी वर्णसे युक्त (शुचयः) शुद्ध (पावकाः) पवित्रता करनेवाले जल हैं, (यासु) जिनमें (सविता जातः) सूर्य हुआ है और (यासु अग्निः) जिनमें अग्नि है। याः) जो जल (अग्निं गर्भं) अग्निको गर्भरूपसे (दधिरे) धारण करता है (ताः) वह (सु-वर्णाः आपः) उत्तम वर्णवाला जल (नः) हम सबोंके लिये (शं) शांतिदायक और (स्योनाः) सुखदायक (भवन्तु) हो।

इस मंत्रका " **आपः** " शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त है। केवल कूवे तालाव आदिके जलसे यहां अभिप्राय नहीं है। प्रकृतिके मूल समुद्रसे सूर्यादि तेजस्वी गोल गोलांतर बननेके पूर्व जो जो तन्मात्रा

की अवस्था थी उसका उद्देश करके यहांका " **आपः** " शब्द प्रयुक्त हुआ है। [" **आपो वा इदमग्रे सलिलं आसीत्** ।तै.सं. ७।१।५।१। **अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपाकिरत्** । मनु. १।८॥] प्रथम आप् तत्त्व उत्पन्न किया और उसमें वीर्य रखा। यही आप् इस मंत्रमें कहा है। इससे: अग्नि, सूर्य आदि तेजोंकी उत्पत्ति हो गई है। प्रकृतिके मूल समुद्रसेही सूर्यादि गोल बने हैं । अर्थात् यह हमारा पीनेका जलभी वहांसेही उत्पन्न होगया है।

(४)

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव पश्यञ् जनानाम् ॥२॥ यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अंतरिक्षे बहुधा भवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ– (राजा वरुणः) राजा वरुण (जनानां) लोगोंके (सत्य–अनृते) सत्य और असत्यको (अव पश्यन्) देखता हुआ (यासां मध्ये याति) जिनके बीचमेंसे चलता है। (दिवि देवाः) द्युलोकमें रहने वाले देव (यासां भक्षं) जिनका अन्न (कृ-ण्वंति) करते हैं, और (याः) जो अंतरिक्षमें (बहु–धा) बहुत प्रकारसे (भवन्ति) होता है। वह जल हम सबोंको शांति और सुख देवे।

(५)

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥ घृतश्चुतः शुचयो याः पावका स्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥ अथ–१।३३।

अर्थ--हे (आपः) जलो ! (शिवेन चक्षुषा) शुभ दृष्टिसे (मा) मुझे (पश्यत) देखिये । [शिवया तन्वा] शुभ शरीरसे [मे त्वचं] मेरी त्वचाको (उप स्पृशत) स्पर्श कीजिये । (घृतः चुतः) तेजको स्रवनेवाला (शुचयः) पवित्र ऐसा (याः पावकाः आपः) जो पवित्रता करनेवाला उदक है (ताः) वह जल (नः) हम सबोंके लिये शांति और सुखकारक हो ।

इस सूक्तमें जलका वर्णन है । जलकी उत्पत्ति मूल प्रकृति के परमाणुओंसे होगई है, जहांसे सूर्य और अग्नि भी उत्पन्न हुये हैं । जलांधिपति वरुण श्रेष्ठ देवही है । यह परमेश्वर सबके श्रेष्ठ और कनिष्ठ व्यवहारोंको देखता हुवा इनमें व्यापता है । इस जलसे सब देवोंका अन्न होता है । शुद्ध जलसे सब इंद्रियोंकी पवित्रता होती है और उनमें नवजीवन संचार करता है ।

चतुर्थ मंत्रमें आलंकारिक वर्णन है । " जल शुभ दृष्टिसे हमको देखें " अर्थात् जलसे हमारा शुभ हो । " जल अपने शुभ देहसे हमारे चमडीको सुखस्पर्श करे, " अर्थात् पवित्र जलके स्पर्शसे हमें सदा आनंद हो । क्यों कि जल उत्साह और तेज बढानेवाला (घृत-चुतः) है, पवित्रता करनेवाला (पावकाः) है और स्वयं पवित्र (शुचिः, शुचयः) है ।

संधि—यासु+अग्निः=यास्वग्निः । वर्णाः+ताः=वर्णास्ताः । याः+अग्निं=या अग्निं । स्योनाः+भवन्तु=स्योना भवन्तु । वरुणः+याति=वरु-

णो याति । सत्य+अनृते=सत्यानृते । पश्यन्+जनानां=पश्यञ्जनानां । पश्यत+आपः=पश्यतापः । तन्वा+उप=तन्वोप । घृतः+चुतः=घृतश्चुतः ॥

शब्दका विशेष अर्थ—(१) " आप् " धातुका अर्थ व्यापना, फैलना, सर्वत्र होना है । जो सर्वत्र व्यापता, फैलता और सर्वत्र होता है वह आप् होता है । (२) **सुवर्ण**—शब्दके दो अर्थ हैं । एक उत्तम रंगसे युक्त, और दूसरा सोना, स्वर्ण नामकी धातु । (सु) उत्तम है (वर्णः) वर्ण अथवा रंग जिस धातुका वह सुवर्ण, स्वर्ण अथवा सोना कहलाता है ।

पाठ ७

स्वर

देवनागरी वर्णमालाके अक्षरोंमें स्वर और व्यंजन ऐसे दो भेद हैं । " **स्व–र** " (स्वयं राजंते) जो अक्षर स्वयं प्रकाशमान होते हैं वेह स्वर कहलाते हैं । यह शब्द निम्न रीतिसे बना है—

स्वयं………राजते

स्व (०)……. र (००)

" **स्वर** " संज्ञक अक्षरोंका जितना चाहे लंबा उच्चारण किया जा सकता है । गवय्ये गानेके समय जो तान और आलापका गायन करते हैं वे स्वरोंका ही गायन करते हैं । व्यंजनोंका गायन नहीं हो सकता, क्योंकि स्वर स्वतंत्र हैं और व्यंजन परतंत्र हैं । **अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ (ॡ) ए ऐ ओ औ अं अः** ये सोलह स्वर

हैं। प्रत्येक स्वर स्वयं प्रकाश है, आप उसको जितना चाहे लंबा बोल सकते हैं। केवल ' ऌ ॡ ' ये ही स्वर व्यंजन सदृश होनेसे संक्षिप्त बोले जाते हैं, अन्योंका जितना चाहे लंबा आवाज किया जा सकता है। जो बडे गवय्ये होते हैं, वे दो तीन मिनिट तक ' अ इ उ ए ओ ' आदि स्वरोंका लंबा उच्चारण करके आलाप लेते हैं। इन स्वरोंमें मुख्य स्वर निम्न लिखित हैं—

अ इ ऋ ऌ उ (ह्रस्व स्वर)

अन्य जो हैं उनमें ' आ, ई, ऊ, ॠ, ' ये दीर्घ स्वर कहलाते हैं और शेष स्वर संयुक्त स्वर हैं। ह्रस्व स्वर एक मात्राका होता है दीर्घ स्वर दो मात्राका और प्लुत स्वर तीन मात्राका हुआ करता है। इनका लेखनका ढंग निम्न प्रकार है—

ह्रस्व स्वर—अ इ ऋ ऌ उ
दीर्घ „ —आ ई ॠ ० ऊ
प्लुत „ —आ३ ई३ ॠ३ ॡ३ ऊ३

साम वेदके गायनमें प्लुत स्वर पाठक देख सकते हैं। ह्रस्व स्वरके तीन गुणा लंबा इसका उच्चारण होता है दूरसे किसीको बुलानेके समय प्लुत स्वरका प्रयोग होता है। इसका उपयोग भाषामें भी है।

स्वरोंमें और तीन भेद हैं। (१) उदात्त (२) अनुदात्त और (३) स्वरित। ये इस समय वेदों और ब्राह्मणोंमें दिखाई देते हैं, परंतु सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय, तो संपूर्ण संस्कृत भाषामें ये स्वर

हैं। ग्रीक आदि युरोपियन भाषाओंमें भी हैं; और भारतवर्षकी सांप्रतकी प्रचलित भाषाओंमें भी हैं परंतु इसकी नियमबद्ध व्यवस्था किसीनें अबतक नहीं की है। वैदिक देवभाषाके उदात्त अनुदात्त और स्वरित शब्दोंके नियम भगवान पाणिनी महामुनिने अपने व्याकरणमें लिखे हैं, और वेदका अर्थ जाननेके लिये इस स्वरविज्ञानकी बडी भारी आवश्यकता है। संस्कृत भाषामें भी ये स्वर हैं, परंतु आजकल उसका कोई भी विचार नहीं करते और शब्दोंका मनमाना उच्चारण करते हैं!! कमसे कम वेदका उच्चारण तो विशेष सावधानताके साथ करनेका यत्न करना चाहिये। परंतु उत्तर प्रांतमें ऊर्दू पर्शियनकी प्रबलता विशेष होनेके कारण उनका वैदिक वर्णोच्चार ठीक होना प्रायः अशक्य कोटीतक पहुंच चुका है!! तथापि सब बातें प्रयत्नसाध्य होतीं हैं, इस लिये यदि सूज्ञ लोग प्रयत्न करेंगे, तो अवश्य शुद्ध उच्चारण हो सकता है। वैदिक स्वरोंका प्रकरण बडा विस्तीर्ण है। उसका विचार **वेद स्वयं शिक्षक**' के अगले विभागोंमें क्रमशः आजायगा। यहां उदात्त, अनुदात्त, स्वरितके लक्षणही केवल बताये जाते हैं।

(१) **उदात्त**—वह स्वर होता है कि जिसका उच्चारण मुखमें उच्च स्वरसे होता है।

(२) **अनुदात्त**—वह स्वर होता है कि जिसका उच्चारण मुखमें निचले स्वरसे होता है।

(३) **स्वरित**—वह स्वर होता है कि जिसका उच्चारण मध्यम

स्वरसे होता है, इसमें उदात्त और अनुदात्तके धर्म सम प्रमाणमें होते हैं।

वेदमें ये तीनों स्वर आते हैं। शब्दोंके नीचे और ऊपर लकीरें देकर जो चिन्ह होते हैं, उनसे इन स्वरोंका ही बोध होता है। इनक अर्थके साथ विशेष संबंध है, जिसका वर्णन अगले विभागोंमें पाठक पढ सकेंगे। प्रत्येक मूल ऱ्हस्व स्वर (१) ह्रस्व, (२) दीर्घ और (३) प्लुत इन तीनों भेदोंसे तीन प्रकारका है, उस प्रत्येकमें (१) उदात्त, (२) अनुदात्त और (३) स्वरित तीन तीन भेद होनेसे प्रत्येक स्वर ९ प्रकारका हुआ। इसमें भी प्रत्येक (१) अनुनासिक सहित (२) और अनुनासिक रहित ये दो भेद होनेसे प्रत्येक स्वर १८ प्रकारका है। नाकमें जिसका उच्चारण होता है वह अनुनासिक कहलाता है और जिसका केवल मुखमें ही उच्चारण होता है वह अनुनासिक रहित कहा जाता है। इतना स्वरोंका विस्तार है। इससे अधिक और भी बडे झगडे हैं परंतु उनके साथ पाठकोंको इस समय कुछ भी करना नहीं है, इसलिये आवश्यक बातोंकाही वर्णन यहां किया है। उतनाही पाठक ध्यानमें रखें।

' अ, इ, उ, ऋ, ऌ ' के भेदोंका वर्णन ऊपर दिया ही है। ऋ ऌ के संबंधमें अधिक झगडे हैं, परंतु उनका ज्ञान होना इस समय आवश्यक नहीं है। जो संयुक्त स्वर हैं उनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

संयुक्त स्वर–विजातीय स्वर संधि ।

अ, आ	+	इ, ई	=	ए
अ, आ	+	ए, ऐ	=	ऐ
अ, आ	+	उ, ऊ	=	ओ
अ, आ	+	ओ, औ	=	औ

पाठक अनुस्वार विसर्गोंको इस समय अलग समझें । अनुस्वार मकार ही है और विसर्ग हकार है । अ+म्=अं । अ+ : = अः । इसी प्रकार अन्य स्वरोंके साथ ये अनुस्वार विसर्ग लग जाते हैं । इन स्वरोंको उलटा मिलनेसे निम्न प्रकार संधि बनते हैं, ये भी यहां स्मरण रखने योग्य हैं—

विजातीय स्वर संधि ।

इ, ई + अ=य	ए + अ=अय
	ए + आ=अया
इ, ई + आ=या	ऐ + अ=आय
	ऐ + आ=आया
उ, ऊ + अ=व	ओ + अ=अव
	ओ + आ=अवा
उ, ऊ + आ=वा	औ + अ=आव
	औ + आ=आवा

यदि पाठक इन संधियोंको स्मरण रखेंगे तो उनको शब्द संधिका परिचय होनेमें बडी सुगमता हो सकती है । स्वरोंसे व्यंजन कैसे बने

इसका पता यहां पाठकोंको लग सकता है। ये सब संधि संस्कृत भाषामें तथा वैदिक भाषामें भी होते हैं। यहां परिचय होनेके लिये सजातीय स्वरोंके संधिभी देता हूँ—

सजातीय स्वर संधि।

{अ, आ} + {अ, आ} = आ	{उ, ऊ} + {उ, ऊ} = ऊ
{इ, ई} + {इ, ई} = ई	{ऋ, ॠ} + {ऋ, ॠ} = ॠ

अनुस्वारके साथ संधि।

अं + अ=अम	अं + उ=अमु
अं + इ=अमि	अं + ओ = अमो

जो 'अं' लिखते हैं वह वास्तविक 'अम्' ही है। पदके अंतमें 'म्' हीं लिखा जाता हैं जैसा—देवम्, गृहम्, कर्तुम्।

स्वरोंकेसाथ विसर्ग संधि।

अः + अ = {ओ अ, ओ ऽ}	अः+ {उ, ऊ} = अ उ (ऊ)
अः + आ = अ आ	अः+ {ऋ, ऌ} = अ ऋ (ऌ)
अः + {इ, ई} = अ इ (ई)	अः+ {ए ऐ, ओ औ} = अ {(ए ऐ), ओ औ}

तात्पर्य यह है कि विसर्गके सामने ' अ ' को छोडकर कोई अन्य स्वर आगया तो विसर्ग लुप्त हो जाता है।

सारांशसे ये स्वरोंके संधि हैं। इनके अन्य प्रभेद क्रमशः पाठकोंको आगे ज्ञात हो सकते हैं। अब इन स्वरोंसे व्यंजन किस रीतिसे और किस क्रमसे बने हैं इसका ज्ञान पाठकोंको आवश्यक है। इसका ज्ञान होनेसे वर्णमालाका ज्ञान हो सकता है। इस लिये इसका महत्व है।

पाठ ८

' गोमत् ' शब्दके रूप।

१	गोमान्	गोमन्तौ	गोमन्तः
सं.	हे गोमन्	,,	,,
२	गोमन्तं	,,	गोमतः
३	गोमता	गोमद्भ्यां	गोमद्भिः
४	गोमते	,,	गोमद्भ्यः
५	गोमतः	,,	,,
६	,,	गोमतोः	गोमतां
७	गोमति	,,	गोमत्सु

पाठक इन रूपोंमें देखें कि किन विभक्तियोंके किन वचनोंके रूप समान हैं। इस शब्दके समानही निम्न शब्दोंके रूप होते हैं—

शब्द

ऋष्टिमत्—शस्त्रयुक्त	पशुमत्—पशुयुक्त
ज्योतिष्मत्, द्युमत्—तेजस्वी	पितृमत्—पितासे युक्त
मधुमत्—माधुर्य युक्त	भानुमत—सूर्ययुक्त, तेजस्वी
वसुमत्—धनयुक्त	शोचिष्मत्—तेजस्वी, प्रकाशमान
	हविष्मत्—हविर्द्रव्यसे युक्त

इन शब्दोंके रूप गोमान् शब्दके समान ही होते हैं। पाठक इनमेंसे दो तीन शब्दोंके रूप बनाकर कागजपर लिखें और उक्त रूपोंके साथ तुलना करें। शब्दके रूप कंठ करनेकी अपेक्षा यदि पाठक रूप बनानेकाही अभ्यास करेंगे, तो विना कंठ किये सब शब्दोंके रूप बनाना उनके लिये सुगम होगा। अब उक्त शब्दोंका उपयोग देखिये—

(१) **रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।** (ऋ. १।८८।१)= (अश्वपर्णैः) जिनको घोडे जोते हैं और (ऋष्टिमद्भिः) जिनपर शस्त्र हैं ऐसे रथोंके साथ (यात) जाईये।

(२) **विद्युद्रथा मरुतो ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः।** (ऋ ३।५४।१३)=बिजुलीके रथोंमें बैठनेवाले (मर्-उतः) मरनेके लिये तैयार शूरवीर (ऋष्टि-मन्तः) शस्त्रास्त्रोंसे युक्त दिव्य मनुष्य (ऋत जाताः) सचाईके लिये प्रसिद्ध और (अयासः) फूर्तिले हैं।

(३)

**वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषु-
मन्तो निषंगिणः॥ स्वश्वाःस्थ सुरथाः पृश्निमातरः
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥ ऋ ५।५७।२**

(वाशी–मन्तः) वक्तृत्वसे पूर्ण (ऋष्टिमन्तः) शस्त्रास्त्रसे युक्त, बुद्धिमान, उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले, (इषुमन्तः) बाण जिनके पास हैं, (निषंगिणः) शस्त्रके कोश–तरकश–साथ रखनेवाले (सु–अश्वाः) उत्तम घोडोंसे युक्त (सु–रथाः) उत्तम रथोंसे युक्त (पृश्नि–मातरः) भूमिको अपनी माता माननेवाले (सु–आयुधाः) उत्तम शस्त्र धारण करनेवाले (स्थ) होकर (मरुतः) मरनेके लिये तैयार वीरो ! (शुभं याथना) विजयके प्रति जाइये ।

(४)

**तंतुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः
पथो रक्ष धिया कृतान्॥ अनुल्बणं वयत जोगुवा-
मपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ ऋ १०।५३।६**

(तंतुं तन्वन्) सूत बानाते हुए (रजसः भानु अन्विहि) रंगके तेजका अनुसरण करो । (धिया कृतान्) बुद्धिसे बनाये हुए (ज्योतिष्मतः पथः रक्ष) तेजस्वी मार्गोंका रक्षण करो । (अनु–उल्बणं) जिनमें ग्रंथियां नहीं हैं ऐसे सूतसे (वयत) कपडा बुनो । (जोगुवां अपः) कवियोंका यह कर्म है । इससे (मनुः भव) मननशील बनो और (दैव्यं जनं जनय) दिव्य संतान उत्पन्न करो ।

(१) चर्खेसे सूत निकालो, (२) उसको रंग दो, (३) ठीक प्रकार सीधा रख कर उससे कपडे बुनो, (४) बुद्धिसे निश्चित हुए श्रेष्ठ कर्तव्योंको करो, (५) सदा मननशील बनो, (६) उत्तम संतति उत्पन्न करो, यह सब श्रेष्ठोंका कर्तव्य है।

(५) **बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि।** (ऋ ७।७८।१)=बडे तेजस्वी रथसे हमको (वामं) सुंदर देशके प्रति (वक्षि) ले जाओ।

(६) **मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।** (ऋ. १।९०।८)=हमारी वनस्पतियां मीठि हों, सूर्यप्रकाश मीठा हो, हमारी गाइयां मीठीं हों (गायका दूध मीठा हो)।

(७) **मधुमन्मे परायणं मधुमत्पुनरायनम्** (ऋ. १०। २४।६)=मेरा गमन मीठा और फिर लौट आना भी मीठा है।

(८) **स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।** (ऋ ६।४७।१)=(अयं) यह मधुर स्वादु (किल) निश्चयसे है (उत) और यह तीव्र रसवाला है।

(९) **आ नो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्तु।** (ऋ. १०।९८।२) हमारे पास मीठे पेय (आ विशंतु) आजांये।

(१०) **आ न उप वसुमता रथेन गिरो जुषाणा सुविताय यातम्॥** (ऋ. १।११८।१०)=(नः गिरः जुषाणा) हमारे

भाषण सुनते हुए (वसुमता रथेन) धनयुक्त रथसे (सु विताय) सुविधाके लिये (उप आ यातं) आ जाईये ।

(११) **यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवंधुरो वसुमां उस्रयामा ॥** (ऋ. ७।७१।४)= हे नृपती ! जो आपका रथ (वोळ्हा) चलाने योग्य, धनसे युक्त, (त्रि-बंधुरः) तीन बैठकों-वाला और (उस्र-यामा) दिनमें चलनेवाला है ।

(१२) **युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः प्रजावान्नः पशुमां अस्तु गातुः ॥** (ऋ. ३।५४।१८)=(नः अन्+अपत्यानि) हमारेसे संतान–रहित होनेका दोष (युयोत) दूर करो और (नः गन्तोः) हमारेमेंसे प्रगति करनेवालेका (गातुः) मार्ग प्रजा और पशुसे युक्त हो ।

(१३) **अग्निः शोचिष्मां अतसान्युष्णन्कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम ।** (ऋ. २।४।७)=तेजस्वी अग्नि (अतसानि उष्णन्) शुष्क पदार्थ जलाकर (कृष्ण-व्यथिः) स्थान काला करता हुअ (भूम अस्वदयन्) अधिक स्वाद लेनेकी इच्छा करता है (न) जैसा

(१४) **दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिरग्निः ।** (ऋ. ३।२९।२)=प्रति दिन जागृत लोगोंने हवि लेकर अग्नि पूजा करने योग्य है ।

(१५) **आ सूर्यो न भानुमद्भिरर्कैरग्ने ततन्थ रोदसी विभासा ।** (ऋ. ६।४।६)=सूर्य अपने (भानुमद्भिः अर्कैः न) तेजस्वी किरणों द्वारा जैसा प्रकाश करता है वैसा हे अग्ने ! (रोदसी)

द्युलोक और पृथिवीमें (भासा) अपने तेजसे (वि आ ततन्थ) प्रकाशन करो।

(१६) **आद्य रथं भानुमो भानुमन्तमग्ने तिष्ठ यजतेभिः समन्तम्।** (ऋ. ५।१।११)=हे (भानुमः) तेजस्वी अग्ने ! (यजतेभिः) यज्ञ करनेवालोंके समेत तेजस्वी रथ पर (अद्य) आजही (आतिष्ठ) चढो।

(१७) **पूर्वीभिर्यातं पथ्याभिरर्वाक् स्वर्विदा वसु-मता रथेन।** (ऋ. ७।६७।३)=(पूर्वीभिःपथ्याभिः) प्राचीन मार्गोंसे (स्वः-विदा) तेजस्वी धनयुक्त रथसे (अर्वाक्) इधर आईये।

(१८) **ब्राह्मणमद्य विंदेयं पितृमंतं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणम्।** (य-७।४६)=आज ऐसे ब्राह्मणको प्राप्त करेंगे कि जो पितृमान, पैतृमान्, (ऋषिं) मंत्रज्ञाता (आर्षेयं) ऋषियोंका संबंध रखने वाला और (सु-धातु-दक्षिणं) उत्तम दक्षिणा देने योग्य हो।

(१९) **हविष्मंतः सदमित्त्वा हवामहे।** (ऋ. १।११४।८) =हवि लेकर निश्चयसे यज्ञमें तेरेलिये आह्वान करेंगे।

इन मंत्रोंमें पूर्व शब्दोंके रूप पाठक देखें। तथा इस प्रकारके जो जो शब्द वेदमंत्रोंमें आयेंगे, उनके रूप जानने और उनका अर्थ करनेका यत्न करें। ऐसा करनेसे थोडेही समयमें पाठक संपूर्ण शब्दोंके रूपोंके साथ परिचित हो जांयगे। सबसे सुगम रीति यही है। पाठक थोडासा प्रयत्न करके इससे पूर्ण लाभ उठावें।

पाठ ९

मधुसूक्त (अथर्व० १।३४)

इयं वीरुन्मधु जाता मधुना त्वा खनामसि ॥
मधोरधि प्रजाताऽसि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

अर्थ—(इयं वीरुत्) यह बेल (मधु–जाता) मधुरताके साथ उत्पन्न हुई है। हम भी (मधुना) माधुर्यके साथ (त्वा) तुझको (खनामसि) खोदते हैं (मधोः अधि) मधुरतामें (प्र–जाता असि) प्रसिद्ध है, इसलिये (सा नः) वह तू हम सबोंको (मधुमतः कृधि) मधुर रससे युक्त कर।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ॥
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

अर्थ—जिह्वाके अग्रमें मधुरता, मेरी जिह्वाके मूलमें माधुर्य रहे। (इत् अह) निश्चयसे (मम क्रतौ) मेरे कर्ममें (असः) रहो और मेरे चित्तके साथ (उप–आयसि) हो जा ओ।

भावार्थ—मेरे कर्म और चित्तमें मीठास रहे। जिह्वाके भाषणमें मधुरता रहे।

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ॥
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

अर्थ—मेरा (निष्–क्रमणं) चालचलन (मधु–मत्) मीठा हो। मेरी (परायणं) हलचल मीठी हो, मैं वाणीसे मीठा बोलता हूं, जिससे मैं (मधु–संदृशः) देखनेमें मीठा ही (भूयासं) बनूं।

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ॥
मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

अर्थ—(मधोः मधु-तरः) मधुसे भी मैं अधिक मीठा (अस्मि) हूं। (म-दुघात्) मधुका दोहन करनेवालेसे भी (मधु-मत्-तरः) अधिक मीठा हूं। जिसप्रकार (मधु-मतीं शाखां इव) मीठी शाखाको सब प्राप्त होते हैं, उस प्रकार (इत् किल) निश्चयसे (मां) मुझको (त्वं वनाः) तू प्राप्त हो।

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ॥
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

अर्थ–(यथा) जिससे (मां कामिनी) मेरी ही कामना करने वाली धर्मपत्नी (असः) हो और जिससे (मत् अप--गाः) मेरेसे दूर भागनेवाली (न असः) न हो। इस प्रकार (परि-तत्नुना इक्षुणा) फैले हुए ईखके साथ अर्थात् मिठासके साथ मैं (त्वा) तुझको (अ-विद्विषे) द्वेष छोडनेके लिये (परि अगाम्) प्राप्त करता हूं।

भावार्थ—पति स्त्रीसे कहता है कि, हे स्त्री ! तू मेरी कामना करनेवाली और मेरेसे दूर न होने वाली हो जाओ। इस लिये मीठे पनके साथ मैनें तुम्हारा स्वीकार किया है।

यह मधुसूक्त है। इक्षु अथवा ईखमें मधुरता होती है, इसलिये सब लोग इक्षु तथा इक्षुसे बने हुए पदार्थ चाहते हैं। इस लिये मनुष्य को उचित है, कि वह अपना भाषण मधुर करे, अपना दर्शन मधुर

बनावे, अपने सब व्यवहार माधुर्यके साथ करे। ऐसा करनेसे सब लोग उसको ही चाहेंगे, और उसके मित्र बनेंगे। स्त्रीपुरुषोंमें पति पत्नींमे इसी प्रकार मीठा व्यवहार होना चाहिये। जिससे पति और पत्नी एकरूप होकर गृहस्थाश्रमके व्यवहार उत्तम रीतिसे निभा सकते हैं। जगत्में मीठास आकर्षण करने वाला गुण है, जहां मीठाई होती है वहां बहुतोंका आकर्षण होता है। समाज और संघ बनानेके कार्यके लिये भी मीठासकी जरूरी है। जो भाषणमें और अन्य व्यवहारमें मीठा होगा, वही संघका प्रमुख हो सकता है, और सबको आकर्षित कर सकना है, पाठक इस प्रकार इस सूक्त का विचार करें और बोध लेनेका यत्न करें।

संधि—वीरुत्+मधु=वीरुन्मधु। यहां ‘ त ’ का ‘ न ’ बना है। मधोः+अधि=मधोरधि। प्रजाता+असि=प्रजातासि। मम+इत्+अह=ममेदह। क्रतौ+असः=क्रतावसः। कामिनी+असः=कामिन्यसः। मत्+न+अपगाः=मन्नापगाः।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **वीरुत्**–(वी) विशेष रीतिसे (रुत्, रुध्, रुह्) बढने वाली जो होती है वह ‘ वीरुत् ’ कहलाती है। थोडे समय में बेल बहुत बढ जाती है इसलिये इसको ‘ वी-रुत् ’ कहते हैं। (२) **मदुघः**=इस शब्दमें एक अक्षरही गुम हो गया है। मूल शब्द ‘ मधु–दुह्, ’ (मधु–दुघः) था, उसीका ‘ म-दुघः ’ हो गया है। जिस प्रकार गायसे दूधका दोहन होता है, उसप्रकार जिससे मीठेपनका दोहन होता है, उसको ‘ मधु–दुह् किंवा

" म–दुह् ' कहते हैं । इसीका रूप ' मदुघः ' होता है । इसप्रकार मध्य अक्षरका लोप होकर वेदके कई शब्द बने हैं, उदाहरणके लिये देखिये " इदं–द्र " का ' इन्द्र ' बना है ।

पाठक आश्चर्य न करें, वैदिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति आश्चर्यजनक है और इस व्युत्पत्तिका ज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व वेदके मंत्रका हृद्गत ज्ञात ही नहीं हो सकता । अब इंद्र शब्दकी व्युत्पत्ति देखिये––

'इदं–द्र' शब्दसे ' इंद्र ' शब्द बना है । (इदं) इसमें (द्र) विदारण जो करता है वह 'इदंद्र' होता है । इस शरीरमें जो सुराख करता है वह 'इदं–द्र' होता है । ऐतरेय उपनिषद्में कहा है कि––

तं इदंद्रं सन्तं इंद्र इत्याचक्षते । ऐ. उ. १।३।१४

'वह इदं-द्र था, उसको इंद्र कहने लगे ।' इंद्र आत्माका नाम है, यह आत्मा अपनी इच्छाशक्तिसे इस शरीरमें आंख, नाक, कान, मुख, मूत्रद्वार, गुदद्वार आदि स्थानोंमें अपने कार्य करने योग्य छेद करता है, इस लिये उसको 'इदं-द्र' अर्थात् 'इस शरीरमें छेद करने-वाला' कहते हैं । वास्तविक नाम 'इदं–द्र' था परंतु सुगमताके लिये किंवा विद्याकी गुप्तताके लिये उसीका ' इंद्र ' रूप बनाया गया ।

इ	दं	द्र
इं	०	द्र

बीचके 'द' कारका लोप हो गया । इसीप्रकार––

म	धु	दुह्=मधु दुह्
म	(०)	दुह्=म० दुह्

शब्द बन गया है। निरुक्त शास्त्रमें इसके नियम पाठक देखेंगे तथा इस पुस्तकमें थोडे थोडे नियम दियेही हैं, उससे पाठकोंको कुछ न कुछ कल्पना हो जायगी। वेद स्वयंशिक्षकमें क्रमशः ये नियम आ जांयगे। यहां और एक दो शब्द बताता हूं—

'अग्र–णी' शब्दसे उक्त प्रकार 'अग्नि' शब्द बना है। (अग्रं) अग्रभागमें, अंततक जो (नी) पहुँचाता है वह **अग्रणी** कहलाता है ; निरुक्तकार कहते हैं कि—

अग्निः कस्मात्, अग्रणीर्भवति। निरु.।

" अग्नि कैसा होता है? जो अग्रणी होता है।" इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

अग्र———णी
अग्र———नी
अग् (०)——नी
अग्———नि=अग्नि

परमेश्वर, आत्मा, गुरु, सेनानी, राजा, नेता आदि अग्रणी हैं क्यों कि ये पुरुषार्थके अंततक साथ देते हैं। इस लिये ' अग्नि 'के सूक्तोंमें पाठक इनका वर्णन देखेंगे। तथा और एक शब्दकी उत्पत्ति देखिये—

कंबल———भोज
कं (००)——भोज
कं———भोज

" कं भोजं " शब्द एक देश विशेषका नाम है जहां कि कंबल ओढकर भोजन करना पडता है, क्यों कि वेंहां अत्यंत शीत प्रधान

हवा है, इस लिये वस्त्र उतार कर भोजन नहीं कर सकते। कंबल लेकर भोजन करने वालोंको ' **कंबल भोज** ' कहते हैं, उसीका रूप होते होते ' **कंभोज** ' बन गया। इस प्रकार अनेक रूप बने हैं। उनका वर्णन इसी पुस्तकमें पाठक देख सकेंगे। इस व्युत्पत्ति शास्त्रको यदि जानना है तो पाठकोंको इस प्रकारकी व्युत्पत्तियां स्मरणमेंही रखनी चाहिये। आशा है कि पाठक भूलेंगे नहीं।

पाठ १०

स्थान।

मुखमें क्रमशः (१) **कंठ**, (२) **तालु**, (३) **मूर्धा**, (४) **दंत**, (५) **ओष्ठ** इन पाच स्थानोंमें जो स्वरोंका उच्चारण होता है वेही क्रमशः (१) अ, (२) ई, (३) ऋ, (४) लृ, (५) उ ये पांच स्वर हैं। सबसे प्रारंभमें ' अ ' कार है, सबके अंतमें ' उ ' कार है और नासिकामें ' म् ' कार का उच्चारण होता है। अ+उ+म्=ओम्, ॐ, ओ३म् होता है। मुखमें अकारसे पहिले उच्चारण नहीं है, उकारके पश्चात् भी नहीं है। मुख खुलते ही पहिला उच्चार ' अ ' है। होंठ बंद होनेके समयही ' उ ' का उच्चारण होता है, अर्थात् ये दो स्वर सब शब्द ब्रह्मके क्रमशः प्रारंभिक और अंतिम स्वर हैं। यही ओंकारका महत्व है। प्रारंभ और अंतका ग्रहण होनेसे बीचके सब अक्षर आगये, इसलिये समझा जाता है कि ओंकारमें सब शब्दब्रह्म है और वह सत्यभी है। इसके तत्वका अधिक विस्तार करनेका यह स्थान नहीं है, किसी अन्यप्रसंगमें ओंकारका वर्णन किया जायगा। मुखमें निम्नप्रकार वर्णोंका उच्चारण होता है—

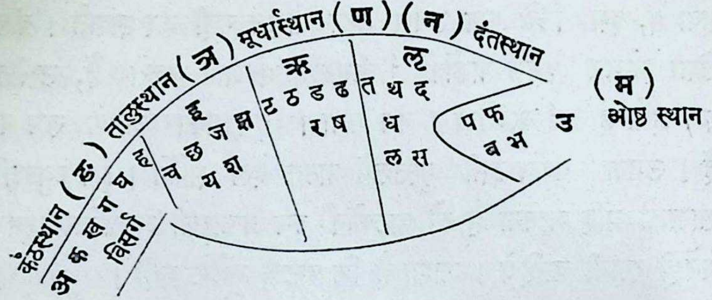

उक्त स्थानोंके साथ ' ङ ञ ण न म ' का उच्चारण नासिका स्थानमें होता है ' अ और उ ' के बीचमें इस प्रकार संपूर्ण वर्णमाला है ।

' अ इ ऋ ऌ उ ' इन स्वरोंका लंबा उच्चारण कीजिये और बीचमेंही रुक जाईये । रुक जाते ही क्रमशः ' ह य र ल व ' की आवाज सुनाई देगी । इनसेही अन्य व्यंजन निम्न क्रमसे बने हैं—

(कंठमें)	(तालुमें)	(मूर्धामें)	(दंतमें)	(ओष्ठमें)	
अ	इ	ऋ	ऌ	उ	
ह	य	र	ल	व	[स्वरको रोकनेसे उच्चारित अंतस्थ अर्थात् बीचके वर्ण]
घ	झ	ढ	ध	भ	[वेही बडे दबावके साथ]
ग	ज	ड	द	ब	[,, कोमलताके साथ]
क	च	ट	त	प	[,, उच्च स्थानमें उच्चारित]
ख	छ	ठ	थ	फ	[,, हकारके साथ]
ङ	ञ	ण	न	म	[,, नासिकामें]
ᳵ	श	ष	स	):(	[,, उक्त स्थानोंमें विसर्ग]

उक्त पांच स्वर समझिये कि ये पंच प्राणही हैं। येही पंच प्राण स्थान स्थानमें जाकर विभिन्न व्यंजनोंके रूप धारण करते हैं। शरीरमें आप देखिये, कि पंच प्राण अंग प्रत्यंगोंमें जाकर विविध अवयव रूप बनते हैं, वही बात यहां है। इन अक्षरोंके भगवान महेश्वरके बनाये हुए चौदह सूत्र हैं, वे भी यहां देखने योग्य हैं—

(१) अ इ उ ण्। (२) ऋ ऌ क्। (३) ए ओ ङ्। (४) ऐ औ च्। (५) ह य व र ट्। (६) ल ण्। (७) ञ म ङ ण न म्। (८) झ भ ञ्। (९) घ ढ ध ष्। (१०) ज ब ग ड द श्। (११) ख फ छ ठ थ च ट त व्। (१२) क प य्। (१३) श ष स र् (१४) ह ल्॥

ये सूत्र न केवल व्याकरण की सुविधाके लिये बनाये हैं परंतु ये धातुओंकी मूल उत्पत्तिभी बता रहे हैं। इनके अक्षर एक दूसरेके साथ विशेष रीतिसे मिलकर मूल धातु बनते हैं जो कि विशिष्ट योनीके निज शब्द हैं। इन चौदह सूत्रोंके अक्षरोंसे पांच छः सौ मूल शब्द बनते हैं, इसका विशेष वर्णन करनेके लिये बडा समय और स्थान चाहिये। इस लिये अगले विभागोंमें इसका स्वरूप थोडासा बताया जायगा। इस विभागमें जितनी बात आवश्यक है उतनी ही बताई जायगी।

अक्षरोंमें मूल (अ) कार है। उसीका भिन्न स्थानोंमें आघात होकर 'अ इ ऋ ऌ उ' ये पांच स्वर बने। इन पांच स्वरोंसे अन्य स्वर बने। इन पाच स्वरोंको दबावमें रखनेसे अथवा स्वतंत्र

रखनेसे अन्य व्यंजन बने हैं। यह सब पूर्व स्थलमें बतायाही है। पांच स्वरोंसे जो व्यंजन बने हैं उनकी संख्या ३३ है, यह बात ध्यानमें धरने योग्य है। मूल एक "**शब्द ब्रह्म**" शब्दकी उत्पत्तिके समय अकार रूप बना, उससे पंच स्वर उत्पन्न हुए और उनसे ३३ व्यंजनोंकी उत्पत्ति हो गई। ३३ वर्ण और पूर्वोक्त स्वर मिलकर सब शब्दसृष्टि बनी है।

इसी प्रकार आदि ब्रह्म प्रथम वैश्वानरमें प्रकट हुआ। उस वैश्वानरसे पंच सूक्ष्म तत्व हो गये और उनके द्वारा ३३ देवतायें बनीं। इन ३३ देवताओं द्वारा ही संपूर्ण सृष्टि बनी है। इस बातको व्यक्त करनेके लिये निम्न कोष्टक है—

(अधिशब्द)	(अध्यात्म)	(अधिदैवत)
अक्षर ब्रह्म	अक्षर ब्रह्म	अक्षर ब्रह्म
शब्द ब्रह्म	ब्रह्म (जीव आत्मा)	पर ब्रह्म (परमात्मा)
मकार	सुषुप्ति अवस्था	सृष्टि कारण (प्राज्ञ)
उकार	स्वप्न ,,	,, सूक्ष्म (तैजस)
अकार	जागृति ,,	,, व्यक्त (वैश्वानर)
पंच स्वर	पंच तन्मात्रा	पंच सूक्ष्म तत्व
३३ व्यंजन	**३३ देवताओंके अंश**	**३३ देवताएं**
शब्द सृष्टि	शरीरके अंग	संपूर्ण सृष्टि

उक्त कोष्टकसे पाठकोंको विदित हुआ ही होगा कि जैसा जगत्के ३३ देवताओंके साथ व्यक्तिके शरीरके ३३ तत्वोंका संबंध

है, उसी प्रकार प्रत्येक देवताका प्रत्येक अक्षरके साथ भी संबंध है। अर्थात् ३३ देवताओंका ३३ व्यंजनोंके साथ संबंध है। देवनागरी वर्णमालाका प्रत्येक अक्षर किसी न किसी देवताका संबंध बताता है। इसका निम्न प्रकार संबंध है--

स्वर और देवता।

(१) अ—ब्रह्म, आत्मा शिव, ब्रह्मा, वायु, वैश्वानर। (२) इ—कामदेव। (३) ई—लक्ष्मी, काम देव। (४) उ—शिव, ब्रह्मा,। (५) ऊ—शिव, चंद्र,। (६) ऋ—देवमाता, अदिति। (७) लृ—पृथिवी, स्त्रीशक्ति। (८) ए—विष्णु। (९) ऐ—शिव। (१०) ओ—ब्रह्म। (११) औ—शेष, अनंत, पृथ्वी।

व्यंजन और देवता।

(१) क—ब्रह्मा, विष्णु, कामदेव, अग्नि, वायु, यम, सूर्य, आत्मा, काल, मेघ, शब्द; [क्ष—नारसिंह] (२) ख—सूर्य, आकाश। (३) ग—गंधर्व, गणेश। (४) घ—घन। (५) ङ—भैरव, शिव। (६)। च—शिव, चंद्र। (७) छ—गृह, पवित्र। (८) ज—जय, विष्णु, शिव। (९) झ—वायु, बृहस्पति, निद्रा। (१०) ञ—गायन, ध्वनि, शब्द। (११) ट—वामन, भूमि। (१२) ठ—सूर्य, शब्द, चंद्र, गोलाकार, मूर्ति, शिव। (१३) ड—शब्द, अग्नि, शिव। (१४) ढ—शब्द, सर्प। (१५) ण—शिव, ज्ञान, दान। (१६) त—गर्भस्थान, बुद्ध, अमृत, [ता—लक्ष्मी]। (१७) थ—पर्वत। (१८) द—पर्वत, अग्नि, तप। (१९) ध—ब्रह्मा, कुबेर, धन। (२०) न—गणेश,

धन, युद्ध, बुद्ध, दान । (२१) प—वायु । (२२) फ—वायु, मरुत्, अग्नि । (२३) ब—वरुण, जल । (२४) भ—शुक्र, नक्षत्र, ग्रह । (२५) म—काल, चंद्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, यम, जल, सुख । (२६) य—वायु, प्रकाश, किरण, यम । (२७) र—अग्नि, प्रीति । (२८) ल—इंद्र । (२९) व-शक्ति, वायु, शस्त्र, वरुण, राहु । (३०) श—शस्त्र, शिव, सुख । (३१) ष—स्वर्ग द्युलोक, निद्रा, ज्ञानी, मोक्ष । (३२) स—सर्प, वायु, शिव, विष्णु, [सा—लक्ष्मी, सं—ज्ञान] (३३) ह-शिव, जल, आकाश, रक्त, शून्य, स्वर्ग, द्यौः, ज्ञान, चंद्र, विष्णु, युद्ध, अश्व, वैद्य, ब्रह्म, आत्मा, सुख ॥

इन अक्षरोंका इन देवताओंके साथ संबंध है। इनसे अधिक देवताओंका संबंध है, परंतु इस विषयमें जितने चाहिये उतने प्रमाण मिले नहीं, इसलिये जितने प्रमाण प्राप्त हुए उतनेही लिखे हैं। यहां पौराणिक और वैदिक देवतायें हैं, इससे इनका परस्पर संबंध भी ज्ञात हो सकता है। प्रत्येक अक्षरका इस प्रकार देवता-ओंके साथ संबंध है। तात्पर्य कोई अक्षर व्यर्थ नहीं है और प्रत्येक अक्षरमें बडा गुह्यभाव पूर्णतासे भरा है । आशा है कि पाठक इनका विशेष विचार करेंगे।

पाठ ११

इस पाठमें 'वत्' प्रत्ययान्त पुल्लिंगी शब्दोंके रूप बताने हैं। 'भग-वत्' शब्दके रूप निम्न प्रकार होते हैं—

भगवत् शब्द ।

१	भगवान्	भगवन्तौ	भगवन्तः
सं	हे भगवन्	,,	,,
२	भगवन्तं	,,	भगवतः
३	भगवता	भगवद्भ्यां	भगवद्भिः
४	भगवते	,,	भगवद्भ्यः
५	भगवतः	,,	,,
६	,,	भगवतोः	भगवतां
७	भगवति	,,	भगवत्सु

इसी प्रकार निम्न लिखित शब्दोंके रूप होते हैं । पाठक निम्न लिखित शब्दोंके रूप इसीके अनुसार बनावें ।

शब्द

अग्निवत्=अग्नि युक्त
अंगिरस्वत्=अंगिरसोंसे युक्त
अक्षण्वत्=आंखसे युक्त
पवीरवत्=शस्त्रधारी
अपवीरवत्=शस्त्रहीन
आत्मन्वत्=आत्मशक्तिसे युक्त
अंतरिक्षवत्=अंतरिक्षमें रहनेवाला
अपत्यवत्=संतान युक्त
परावत्=दूर
अर्वावत्=पास
अश्वावत्=घोडोंसे युक्त
अस्थन्वत्=आस्थियुक्त, हड्डिवाला
इंद्रियवत्=इंद्रियवाला

दक्षिणावत्=दक्षिणा युक्त
पयस्वत्=दुग्धयुक्त
पुंडरीकवत्=कमल युक्त
वाजवत्=अन्न युक्त, बलवान
एतावत्=इतना
एनस्वत्=पापयुक्त
दामन्वत्=दान देने वाला
प्रजावत्=प्रजा युक्त
मरुत्वत्=वायु युक्त
वीर्यवत्=वीर्य वाला
सहस्वत्=बल युक्त
तपस्वत्=तप युक्त
रयस्वत्=धन युक्त

इनमेंसे दो चार शब्दोंके रूप बनाकर पूर्व शब्दके साथ तुलना करके देखिये, और सातों विभक्तियोंके रूप बनानेका अभ्यास बढाइये। यह कार्य बडा सुगम है, यदि आप प्रत्येक प्रकारके शब्दोंके रूप ध्यानसे देखते जायंगे, तो विना कंठ किये हुए आप सब विभक्तियोंके रूप सुगमतासे बना सकेंगे। अब उक्त शब्दोंके रूप जिनमें हैं, ऐसे मंत्र नीचे देता हूं--

(१) **समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तुचरुरग्निवां इव।** ऋ-७।१०४।२)= (अघ-शंसं) पापी मनुष्यके (सं आभि) पास जो (अघं) पाप है वह (तपुः ययस्तु) तप जाये जैसा (अग्निवान् चरुः इव) अग्निमें रखा हुआ वर्तन तपता है। [अग्निमें रखनेसे तपकर जैसा वर्तन स्वच्छ होता है उसी प्रकार पापी मनुष्य तपसे निर्दोष हो जाये]

(२) **अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद्बलमिन्द्रो अंगिरस्वान्।** (ऋ. २।११।२०)= (सूर्यः न) सूर्यके समान इंद्रने (चक्रं अवर्तयत्) चक्र फेंक दिया और अंगिरसोंसे युक्त होकर (बलं भिनत्) बलिष्ठका भेदन किया।

(३) **अक्षण्वंतः कर्णवंतः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।** (ऋ.१०।७१।७)=आंखवाले और कानवाले सब होते हैं, परंतु (सखायः) मित्र मनके वेगमें (असमाः) समान नहीं होते।

(४) **पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदंधः।** ऋ. १।१६४।१६) =आंखवाला (पश्यत्) देखता है अंधा (न विचेतद्) नहीं जानता।

(५) यो जनान् माहिषां इवाति तस्थौ पवीरवान् । उताऽप वीरवान् युधा । (ऋ. १०।६०।३)=(यः) जो (पवीर–वान्) शस्त्र युक्त होकर (उत अ–पवीर–वान्) अथवा शस्त्र न धारण करता हुआ (माहिषान् इव जनान्) भैंसोंके समान शक्तिशाली मनुष्योंको (युधा) युद्धमें (अति तस्थौ) पराजित करता है ।

(६) युवमेतं चक्रथुः सिंधुषु प्लवमात्मन्वंतं पाक्षिणं । (ऋ. १।१८२।५)=(युवं) आप दोनोंने (एतं) यह (पाक्षिणं) पंखोंसे युक्त (आत्मन्वंतं) चपल [प्लवं) नौका (सिंधुषु) समुद्रोंमें तैरने केलिये (चक्रथः) बनाई । [नौकाके पंख वेह होते हैं कि जो वायुके वेगसे नौकाको चलाते हैं]

(७) अर्वावतो न आ गह्यथोः शक्र परावतः। (ऋ३।३७।११) =(अर्वावतः) पाससे अथवा (परावतः) दूरसे, हे (शक्र) इन्द्र ! (नःआगहि) हमारे पास आजाओ ।

(८) सुसास्मा धा गोमदश्वावदुक्थ्यमुषो वाजं सुवीर्यम् ॥ (ऋ. १।४८।१२)=हे उषः ! (सा) वह तू (अस्मासु) हमारे पास गौवें, घोडे, (उक्थ्यं] कीर्ति, (वाजं) अन्न, बल, और उत्तम वीर्य (धाः) धारण करो ।

(९) को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वंतं यदनस्था बिभर्ति । (ऋ. १।१६४।४)=किसने देखा है पाहिले उस (जायमानं) प्रसिद्ध को कि (यत् अन्‌-अस्था) जो हाड्डिसे रहित

होता हुआ (अस्थन् वंतं) हड्डिवालेको (बिभर्ति) धारण करता है। [आत्मा शरीरको धारण करता है]

(१०) **गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान्।** (ऋ. ३।३९।६)=बुद्धिमें रखा हुआ गुह्य गूढ (अप्सु) जलमें अथवा प्रकृतिके समुद्रमें (दक्षिणा-वान्) सहायता देनेवालेने दक्षिणहाथमें (दधे) धारण किया है।

(११) **पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा।** (ऋ. १।२३।२३)=हे दुग्धयुक्त अग्ने ! आओ और मुझे (वर्चसा) तेजसे युक्त (संसृज) करो।

(१२) **ते नो रायो द्युमतो वाजवतो दातारो भूत नृवतः पुरुक्षोः।** (ऋ. ६।५०।११)=(ते) वे आप (नः) हमको (द्युमतः) तेजस्वी (वाजवतः) बलवान् (नृवतः) मनुष्योंसे युक्त (पुरुक्षोः) बहुतों द्वारा प्रशंसनीय (रायः) धनके (दातारः भूत) देनेवाले हो जाइये ।

(१३) **मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यंधि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथं।** (ऋ. ७।८८।६)=(एनस्वंतः) पापी बनकर (ते मा भुजेम) तेरेसे भोग हम न प्राप्त करें। हे (यक्षिन्) पूज्य ! तू (विप्रः) विशेष ज्ञानी है, इसलिये (स्तुवते) उपासक के लिये (वरूथं) श्रेष्ठ स्थान (यंधि स्म) देओ।

(१४) **मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वंतः सुरातयः सुजाते अश्व सूनृते।** (ऋ. ५।७९।४)=हे (मघोनि सुजाते अश्व-सूनृते)

शोभा युक्त सुप्रसिद्ध प्रशंसनीय! (मघैः) आपके धनोंसे (सुश्रिय) उत्तम संपत्तिमान (दामन्वंतः) दान देनेवाले (सु-रातयः) उत्तम सहायक होते हैं ।

(१६) **प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यानुषो गो अग्रां उपमासि वाजान्** । (ऋ. १।९२।७)=(प्रजावतः) प्रजा युक्त (नृवतः) मनुष्योंसे युक्त (अश्व-बुध्यान्) अश्व जहां दिखाई देते हैं (गो अग्रान्) जिनमें गाइयां मुख्य हैं, ऐसे (वाजान्०) अन्न (उपमासि) तू देता है ।

(१६) **प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।** (ऋ. १।९७।५)=अग्निसे सहन शक्ति युक्त तेज (विश्वतः प्र यंति) चारों ओर फैलता है ।

(१७) **तमजरेभिर्वृषभिस्तव स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्** ॥ (ऋ. ६।५।४)=हे (तपिष्ठ) तेजस्वी! तपके कारण तेजस्वी बननेवाला तूं (स्वैः) अपने (अजरेभिः) कभी क्षीण न होनेवाले (वृषभिः) बलवान तेजोंसे (तं तप) उसको तपा ओ ।

इसप्रकारके मंत्रोंमें ' वत् ' प्रत्ययांत शब्दोंके रूप हैं । पाठक इन रूपोंको देखें और पहचाने कि किस शब्दकी कौनसी विभक्ति और कौनसा वचन है । तथा इसके सदृश जो अन्य शब्द हैं उनके रूप जानकर मंत्रका अर्थ करनेका यत्न करें । थोडा थोडा प्रयत्न प्रतिदिन करनेसे बडा लाभ हो सकता है ।

पाठ १२

वेन सूक्त (अथर्व. २।१)

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येक रूपम् ॥ इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्य नूषत व्राः ॥ १ ॥

पद—वेनः । तत् । पश्यत् । परमं । गुहा । यत् । यत्र । विश्वं । भवति । एक–रूपं । इदं । पृश्निः । अदुहत् । जायमानाः । स्वः–विदः । आभि । अनूषत । व्राः ।

अन्वय—वेनः तत् परमं पश्यत् यत् गुहा । यत्र विश्वं एकरूपं भवति । पृश्निः इदं अदुहत् । जायमानाः स्वर्विदः व्राः अभि अनूषत ॥

अर्थ—(वेनः) ज्ञानी (तत् परमं) उस परम श्रेष्ठ ब्रह्मको (पश्यत्) देखता है । जो ब्रह्म (गुहा, गुहायां) बुद्धिके अंदर है । और (यत्र) जिसमें (विश्वं) सब जगत् एकरूप होता है । (पृश्निः) प्रकृति (इदं अदुहत्) इसको बनाती हैं । (जायमानाः) उत्पन्न होनेवाले (स्वः विदः) आत्मज्ञानी (व्राः, वशः) श्रेष्ठ मनुष्य उसका (अभि अनूषत) वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जो बुद्धिमें है उस ब्रह्मका अनुभव ज्ञानी ही प्राप्त करता है इस ब्रह्ममें सब विश्व एकरूपसा हो जाता है । जो यह विश्व प्रकृतिका बनाया है । आत्मज्ञानी श्रेष्ठ मनुष्य उस आत्माके गुणोंका मनन करते करते श्रेष्ठ हो जाते हैं ।

संधि— वेनः+तत्=वेनस्तत् । यत्+यत्र=यद्यत्र । भवति+एक०=भवत्येक० । पृश्निः+अदुहत्=पृश्निरदुहत् । दुहत्+जायमानाः =दुहज्जायमानाः । स्वः+विदः=स्वर्विदः । अभि+अनूषत=अभ्यनूषत ।

शब्दोंका विशेष अर्थ—(१) **वेनः**='वेन्' धातुसे यह शब्द बनता है । वेन्–का अर्थ तेजस्वी होना है । जो तेजस्वी है, जो ज्ञानके तेजसे शोभता है वह वेन है । ज्ञानी, मेधावी, बुद्धिमान्, विद्यावान्, तेजस्वी ये इस शब्दके अर्थ हैं । (२) गुहा=गुफा । गुप्त रहनेका स्थान । हृदय, अंतःकरणके स्थानको गुहा कहते हैं । छातीमें जहां दधुक् होता रहता है वह हृदय है, और वही योगियोंकी गुहा है । यहां ब्रह्म है । वहां जानेसे भेदके अनुभवका ज्ञान लुप्त होता है और एकताका प्रत्यय आता है । (३) **पृश्निः**= नाना रंगोंसे युक्त । प्रकृतिमें तीन गुण हैं, इसलिये सत्वरजतमके तीन वर्ण उसमें हैं । इसलिये यह शब्द मूलप्रकृतिके लिये प्रयुक्त होता है । जो भूमि अथवा गाय विविध वर्णोंसे युक्त होती है, उसको भी उक्त कारणसे पृश्नि कहते हैं । परमेश्वरकी कामधेनु मूल प्रकृतिही है जिससे सब विश्वका दोहन किया जाता है । (४) **स्वर्विदः**—स्वत्वको जाननेवाले । 'स्वः' का अर्थ स्वत्व, आत्मतेज है । अपने आत्माकी शक्तिको जाननेवाले स्वर्विद होते हैं । (५) **व्राः**—जो समूहोंके बलसे रहते हैं उनको 'व्राः' कहते हैं । समाजमें कार्य करनेवाले । मनुष्य ।

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा

यत् ॥ त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पिताऽसत् ॥ २ ॥

पद—प्र । तत् । वोचेत् । अमृतस्य । विद्वान् । गंधर्वः । धाम । परमं । गुहा । यत् । त्रीणि । पदानि । निहिता । गुहा । अस्य । यः । तानि । वेद । स । पितुः । पिता । असत् ॥

अन्वय–विद्वान् गंधर्वः अमृतस्य तत् परमं धाम प्रवोचत् । यत् गुहा । अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहिता । यः तानि वेद स पितुःपिता असत् ॥

अर्थ—विद्वान् (गं–धर्वः) वक्ता अमृतके उस श्रेष्ठ धामके विषयमें (प्रवोचत्) उपदेश करे । जो बुद्धिमें है । इसके तीन पांव बुद्धिमें (निहिता) रखे हैं । जो उनको जानता है वह पिता का पिता होता है ।

भावार्थ—ज्ञानी उपदेशकही आत्माके श्रेष्ठ स्थानका वर्णन कर सकता है । यह श्रेष्ठ स्थान हृदयमें है । वहां ही इसके तीन पाद हैं जो उनको जानता है वह श्रेष्ठसे श्रेष्ठ होता है ।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **गंधर्व**—(गं, गां) वाणीका (धर्व) धारण करनेकी योग्यता धारण करनेवाला । वाणीका उत्तम प्रयोग करनेवाला । " गां " शब्द के वाणी, भूमि गौ, इंद्रिय आदि अनेक अर्थ हैं । (२) **पिता**–पालक, रक्षक । [३] **अमृतं**–[अ] नहीं है [मृत) मरण जहां वह अमृत कहलाता है । (४) **त्रीणि पदानि**— तीन पाद । पाद शब्दका अर्थ चतुर्थ

भाग, चौथा हिस्सा है। 'पादः, पदं, पाद्' आदि शब्द एकही भाव बताते हैं। ब्रह्मके चार पाद हैं । जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या ये आत्माके चार पाद हैं। अंश, भाग, अवस्था, पांव, आदि भाव यहां समझिये। ओंकार में अ, उ, म्, अर्धमात्रा ये, चार अक्षर उक्त चार पादोंके द्योतक हैं। (देखो मांडूक्य उपनिषद्) जागृति का एक ही पांव है। शेष तीन पांव हृदयके अंदर हैं, यह भाव इस मंत्रमें कहा है। प्रायः वेदमें जहां तीन पाद आदि प्रकारका उल्लेख आता है, वहां येही तीन पाद लेने हैं, और जहां एक पादका उल्लेख है वहां जागृतिका एकही भाग लेना है। इस तात्पर्यको पाठक स्मरण रखें।

स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ यो देवानां नामध एक एव तं सं-प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अन्वय—स नः पिता, जनिता, उत बंधुः। सः विश्वा भुवनानि धामानि वेद। यः एक एव देवानां नामधः। सर्वा भुवना तं संप्रश्नं यन्ति।

अर्थ—वह हमारा पिता, जनक (उत) और भाई है। वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। यह एकही देवोंके नाम धारण करता है। सब भुवन उसी (संप्रश्नं) पूछने योग्यके पास (यन्ति) जाते हैं।

भावार्थ—वह आत्मा हम सबोंका (पिता) रक्षक, जनक

और बंधु है। वह सबके विषयमें यथातथ्य ज्ञान रखता है। सब देवोंके नाम वही अपने लिये लेता है। सब जगत् अंतमें उसीमें लीन होता है।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **पिता**–पाता, पालक, रक्षक। (२) **जनिता**–उत्पन्न करनेवाला, जन्म देनेवाला। (३) **बंधु**––बंधा हुआ, नित्य साथ रहनेवाला। (४) **देवानां नामधः**––देवोंके नाम अपने लिये धारण करनेवाला। अग्नि, वायु, सूर्य, इंद्र आदि भिन्न भिन्न देवोंके नाम जिसके लिये योग्य होते हैं (ऋ. १।१६४।४६) में कहा है कि—" इंद्र, मित्र वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि नाम उसी एक देवके हैं। क्योंकि ज्ञानी लोक उस एक देवकाही विविध प्रकारसे वर्णन करते हैं। " यही भाव इन शब्दों द्वारा प्रकट हो रहा है। शरीरमें भी सब इंद्रियोंके नाम उस एक आत्माके लिये योग्य होते हैं। (५) **संप्रश्नः**––उत्तम प्रकारसे प्रश्न करने योग्य आत्मा है। आत्मा कैसा है, उसके गुण कौनसे हैं; वह कहां है इत्यादि अनेक प्रश्न उसके विषयमें करने होते हैं। यदि इस संसारमें कोई संचालक वस्तु है तो वही है। इसलिये " यह कौन है " ऐसा प्रश्न उसी विषयमें करना योग्य होता है। कोई बडा आदमी शहरमें आगया तो लोक पूछा करते हैं कि " वह कौन है ! " इसी प्रकार इस शरीरमें तथा इस जगत्में वह आत्माही सबसे बडा है, इसलिये उसीके विषयमें उत्तम प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त करना योग्य है।

संधि——तत्+वोचेत्+अमृतस्य=तद्वोचेदमृतस्य । गंधर्वः+धाम=गंधर्वो धाम । यः+तानि=यस्तानि । पितुः+पिता=पितुष्पिता । पिता+असत्=पितासत् ॥ बंधुः+धामानि=बंधुर्धामानि । यः+देवानां=यो देवानां ।

वेदमें नपुंसकलिंगी नामोंके प्रथमाके बहुवचनके अंत्य ' नि'का किसी किसी समय लोप होता है । निहिता=निहितानि । विश्वा=विश्वानि । भुवना=भुवनानि । इसीप्रकार अन्यत्र समझना चाहिये ।

पाठ १३

अक्षर और देवता ।

ते त्रयस्त्रिंशदक्षरे भवतः । त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः ।
.........तत्प्रथमे यज्ञमुखे देवता अक्षरभाजः
करोति । अक्षरेणाक्षरेणैव तद्देवताः प्रीणाति ।
देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयति ॥ ऐतरेय ब्राह्मण १।१०।

अर्थ—वे ३३ अक्षरोंमें होते हैं । ३३ देव हैं ।......... इस लिये यज्ञके प्रारंभमें ही देवतायें (अक्षर–भाजः) अक्षरोंका सेवन करनेवाली करता है । प्रत्येक अक्षरसे देवताकी प्रीति करता है । देवपात्रसेही देवताओंकी तृप्ति करता है

प्रत्येक अक्षर ' देव–पात्र ' है । देवोंका भोग लेनेका जो पात्र होता है, जिससे देवतायें भोग भोगतीं हैं, उसको देवपात्र कहते हैं । यहां देवपात्र शब्दसे प्रत्येक अक्षर लेना है । जिस देवताका जो अक्षर है, उसके उच्चारण करनेसे अर्थात् योग्य स्वरसहित

उच्चारण करनेसे उस देवताका पात्र और भोग सिद्ध होता है । इस प्रकार शब्दमें अथवा मंत्रमें जितने अक्षर होते हैं, उतने देवतागण उस शब्द अथवा मंत्रके उच्चारण के समय अपना भोग लेने और संतुष्ट होनेके लिये तैयार रहते हैं । जैसी भोजनकी थाली हृष्टपुष्ट मनुष्यके लिये क्षुधाके समय आनंद देती है उसी प्रकार प्रत्येक अक्षर, मानो देवताकी भोजनकी थाली है । प्रत्येक देवता अपने अक्षरके उच्चारणके समय आती है और देखती है कि मेरा " **देवपात्र** " इस उच्चारण करने वालेने किस प्रकार बनाया है । यदि वर्णोच्चार अच्छा हुआ तो ठीक है, नहीं तो बुरा उच्चारण होनेपर वह देवता क्रोधित भी होती है ।

पाठक इस बातका स्मरण रखें कि उक्त बातसे वर्णोच्चार उत्तम होनेकी कितनी आवश्यकता है । उक्त आलंकारिक कल्पनाही बता रही है, कि अक्षरों शब्दों और मंत्रोंका उच्चारण करनेके समय बडी सावधानी रखनी चाहिये । मूल कथनका आलंकारिक भाग दूर किया जायगा, तो उक्त उपदेशका तत्व निःसंदेह ध्यानमें धरने योग्य है ।

वेदमंत्रका मंत्रत्व उक्त बातमें ही है । वेद मंत्रोंकी शब्द योजना उक्त बातका अनुसंधान करके ही की गई है, यही उसकी विशेषता है । प्रत्येक अक्षर विशेष शक्ति रखता है । शब्दमें जो शक्ति है उसका मूल कारण यही है । **पवित्र शब्दही मुखसे क्यों बोलने चाहिये इसका आंतरिक हेतु यही है ।**

देवताओंमें कई देवतायें सौम्य हैं, कई क्रूर हैं और कई मध्यम

हैं। अक्षरोंमें भी यही प्रकार है। कई अक्षर मृदु अर्थात् सौम्य हैं, कई मध्यम हैं और कई कठोर अर्थात् क्रूर हैं। उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

अल्पप्राण—क ग ङ। च ज ञ। ट ड ण। त द न। प ब म। य र ल व।

महाप्राण—ख घ। छ झ। ठ ढ। थ ध। फ भ। ह। ळ। श ष स।

मृदुवर्ण—ग घ ङ। ज झ ञ। ड ढ ण। द ध न। ब भ म। य र ल व।

कठोरवर्ण—क ख। च छ। ट ठ। त थ। प फ। श ष स। ह।

इस प्रकार वर्णोंके भेद हैं। क्रूर देवताओंका संबंध कठोर वर्णोंसे माना जाता है, और सोम्य देवताओंका संबंध मृदु वर्णोंसे माना जाता है।

वेदकी मंत्ररचना बडी गुप्त रीतिसे हो गई है। वेदके कई शब्द विशेष रीतिसे बनाये गये हैं। इसलिये वेदमंत्रोंको साधारण काव्य समझना उचित नहीं है। कई शब्द इसमें साधारण शब्द हैं जिसमें किसी प्रकारकी गुप्तता नहीं है, इनको प्रत्यक्षवृत्तिके शब्द कहते हैं।

प्रत्यक्ष वृत्तिके शब्द—जिसमें धातु और प्रत्यय का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, उनको '**प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द**' कहते हैं। जैसा—गच्छन्, वदन्, पश्यन्, कर्ता, गन्ता इत्यादि। इन शब्दोंमें मूल धातुका स्वरूप दिखाई देता है।

गम्	धातुसे	गच्छ्	रूप बनकर	गच्छन्	शब्द	बना है।
वद्	,,			वदन्	,,	,,
दृश्	,,	पश्य	,,	पश्यन्	,,	,,
कृ	,,			कर्ता	,,	,,
गम्	,,			गन्ता	,,	,,

इसीप्रकार बहुत अन्य शब्द हैं। इन शब्दोंको देखते ही धातु और प्रत्यय आदिका पता लग जाता है। परंतु कई ऐसे शब्द हैं कि जिनमें स्पष्टरूपसे धातु और प्रत्यय आदिका पता नहीं लगता, परंतु बडी कठिनताके साथ पता लगता है। उनको '**परोक्ष वृत्तिशब्द**' कहते हैं।

परोक्ष वृत्तिके शब्द—जिनमें धातु और प्रत्ययका स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं होता, परंतु बडी दूरताके विचारसे पता लगाना पडता है, उन शब्दोंको '**परोक्ष वृत्तिके शब्द**' कहते हैं। जैसे—अग्नि, इंद्र, इत्यादि।

अग्रणी शब्दसे ' अग्र नी ' का अग्नि बना है।

इदंद्र ,, ' इदं—द्र ,, इंद्र ,, ,,

परंतु ब्राह्मणादि ग्रंथोंकी यह गुह्य व्युत्पत्ति छोडकर साधारण व्युत्पत्ति देखी जायगी, तो इनमें भी धातुका प्रत्यक्ष अनुभव आ सकता है जैसे—

इंद् धातुसे र प्रत्यय होकर इंद्र बना है।

अग् ,, नि ,, ,, अग्नि ,,

इस अवस्थामें इनकोभी प्रत्यक्ष वृत्ति कहा जा सकता है। परंतु ब्राह्मणग्रंथोंमें इनको पूर्वोक्त परोक्षवृत्तिसे ही बनाया है, तथा निरुक्तकारोंनें परोक्षवृत्तिका भी स्वीकार करके निरुक्ति लिखी है। इस लिये ये शब्द दोनों वृत्तिवाले हैं, ऐसा हमको मानना उचित है। इसके अतिरित्त कई शब्द ऐसे हैं, कि जो ' **अति–परोक्ष–वृत्ति**" वाले होते हैं।

अति–परोक्ष वृत्तिके शब्द—बडा प्रयत्न करनेपर भी जिनके मूल धातु आदिका पता नहा लगता, परंतु गुरुके स्पष्ट करनेपर ही जिनके मूल धातुका पता लगता है, इनको ' **अति परोक्ष वृत्ति** ' वाले शब्द कहते हैं। अथर्वा, जल, रथ, कश्यप आदि।

" **अथ अर्वाक् एनं अन्विच्छ।** ' (अब पासही इसको ढूंढो) इस वाक्यमेंसे " **अथ+अर्वाक्** " इन दो शब्दोंमेंसे केवल ' **अथ–र्वा** ' इतना ही शेष बचा है और अथर्वा शब्द बना है। (गोपथ ब्राह्मण में प्र. १।४ में यह व्युत्पत्ति है।)

" जन्मसे लय पर्यंत जो काम देता है वह ' **ज-ल** ' है। '**जन्म+लय**' इन दो शब्दोंके केवळ प्रथम अक्षरोंसेही यह शब्द बना है।

' **स्थिर** ' शब्दका उलटा शब्द बनाकर उसमेंसे कई अक्षरोंका लोप करनेसे ' **रथ** ' शब्द बनता है। स्थिर, रस्थि, रथ।

' दृश् ' धातुसे ' पश्य ' बनता है और देखनेवाला इस

अर्थका '**पश्यक**' शब्द होता है। पहिले और अंत्य अक्षरोंको बदल देनेसे '**कश्यप**' शब्द सिद्ध होता है।

इसप्रकारके शब्द अतिपरोक्ष वृत्तिके होते हैं। इनमें कई शब्दोंकी उत्पत्तियां अत्यंत विलक्षण होतीं हैं। साधारणतः देखनेसे फलाणी व्युत्पत्ति खेंचातानीकी है, ऐसाही प्रथमतः प्रतीत होता है। परंतु वैदिक शब्दोंकी रचनाका परिचय हो जानेपर उसमें अर्थका गौरव ही प्रतीत होने लगता है।

पाठकोंके परिचयके लिये यहां वैदिक शब्दोंकी थोडीसी रचना दिखाई है। इससे उनके ध्यानमें आगयाही होगा, कि वेदके कई शब्द विशेष उद्देशसे और विशेषप्रकारसे बनाये हुए हैं। ये साधारण शब्द नहीं हैं। भाषाका अग्निशब्द और वेदका अग्निशब्द इसमें जमीन अस्मानका भेद है। जो लोग यह बात नहीं समझेंगे और मानेंगे, उनको वेदका आशय विदित ही नहीं होगा।

इस लेखसे इतनाही बताना है, कि वेदके कई शब्द '**सांकेतिक शब्द**' हैं। विशेष संकेतसे, विशेष हेतुसे और विशेष अर्थका संग्रह करनेके लिये ही विशिष्ट शब्दोंकी विशेष प्रकार रचना की गई है। यही वेदकी गुप्त विद्या और गुह्य ज्ञान है। इसी कारण केवल वेदके शब्द ज्ञात होने परभी मंत्रका अर्थज्ञान नहीं हो सकता। तथा इस शब्दकी बनावटमें वर्णोंके देवताओंकाभी विशेष संबंध है। आशा है कि इस विशेषताको पाठक स्मरणमें रखेंगे।

पाठ १४

इस पाठमें नकारान्त पुल्लिंगी शब्दोंके रूप बताने हैं। इस लिये 'राजन्' शब्दके रूप नीचे लिखे जाते हैं—

'राजन्' शब्दके रूप।

१	राजा	राजानौ	राजानः
सं	हे राजन्	,,	,,
२	राजानं	,,	राज्ञः
३	राज्ञा	राजभ्यां	राजभिः
४	राज्ञे	,,	राजभ्यः
५	राज्ञः	,,	,,
६	,,	राज्ञोः	राज्ञाम्
७	राज्ञि, राजनि	,,	राजसु

इस शब्दके समान निम्न शब्दोंके रूप होते हैं।

शब्द

दधिक्रावन्=घोडा, दौड करनेवाला घोडा
सुत्रामन्=उत्तम रक्षक
सुनामन्=उत्तम नामवाला
जरिमन्=वृद्धत्व
द्विमूर्धन्=दो सिरवाला
वरिमन्=विस्तार, श्रेष्ठता
महिमन्=महिमा
पीवन्=पुष्ट
ग्रावन्=पत्थर
युक्तग्रावन्=जिसने पत्थरोंका उपयोग किया है।

पाठक इनमेंसे एक दो शब्दोंके रूप बनाकर उक्त राजन् शब्दके रूपोंके साथ तुलना करके देखें, और इस प्रकारके नकारान्त शब्दोंके रूप बनानेका अभ्यास करें। कई नकारांत शब्दोंके रूप निम्न प्रकार होते हैं—

' पूषन् ' शब्दके रूप।

१	पूषा	पूषणौ	पूषणः
सं.	हे पूषन्	,,	,,
२	पूषाणं	,,	पूष्णः
३	पूष्णा	पूषभ्यां	पूषभिः
४	पूष्णे	,,	पूषभ्यः
५	पूष्णः	,,	,,
६	,,	पूष्णोः	पूष्णां
७	पूष्णि, पूषणि	,,	पूषसु

(तृतीयासे सप्तमी तक:) ये रूप राजन् शब्दके रूपोंके समान हैं।

प्रथमा और द्वितीयाके रूपोंमें थोडासा भेद है। यदि पाठक दोनों शब्दोंके रूप देखेंगें तो उनको उसी समय पता लग जायगा, परंतु सुगमताके लिये नीचे बताता हूं—

राजन् शब्द=राजा	राजानौ	राजानः
पूषन् ,, =पूषा	पूषणौ	पूषणः

" पूषा—पूषाणौ—पूषाणः " ऐसा नहीं हुआ, परंतु " **पूषा—पूषणौ—पूषणः** " ऐसा हुआ है। यही भेद है। तृतीयासे अंततक सबरूप समानही हैं। ष् कारके साथ न कारका णकार हो जाता है। इस नियमके अनुसार " पूषाणं, पूष्णा " आदि शब्दोंमें नके स्थान पर ' ण ' होगया है। इसीप्रकार निम्न शब्दोंके कुच्छ रूप होते हैं—

शब्द

अर्यमन्=श्रेष्ठ, अर्यमा	मुष्टिहन्=मुष्टिसे ताडन करनेवाला
वृत्रहन्=वृत्रका हनन करने वाला	विश्वहन्=सबका हनन करने-वाला.

अब इनके प्रयोग जिन मंत्रोंमें दिखाई देते हैं उनके उदाहरण देखिये और उनमें उक्त शब्दोंके रूप पहचाननेका यत्न कीजिये—

(१) **दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाऽग्रे रथानां भवति प्रजानन्।** (ऋ. ७।४४।४)= (रथानां अग्रे) रथोंके अग्रभागमें (प्रथमः प्रजानन्) पहिला मुख्य और मार्ग जाननेवाला (वीज अर्वा दधिक्रावा) बलवान दौडनेवाला घोडा (भवति) होता है।

(२) **दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।** (ऋ. ४।३९।६)= (जिष्णोः) विजयी (वाजिनः) बलवान् वेगवान् घोडेका (अकारिषं) मैंनें वर्णन किया है।

(३) **इंद्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः।** (ऋ. ६।४७।१२)= इंद्र हमारे लिये (सु-त्रामा) उत्तम रक्षक (स्ववान्) स्वत्व देनेवाला (अवोभिः) रक्षणोंकेसाथ (सु-मृळीकः) प्रशंसनीय और (विश्व-वेदाः) सर्वज्ञाता हो।

(४) **दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः।** अथर्व-८।६।४)= दुष्ट और श्रेष्ठ ये दोनों गुप्तता चाहते हैं।

(५) **उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्।** (ऋ. १।११६।२५)= और (पश्यन्) देखता हुआ मैं

(दीर्घ आयुः अश्नुवन्) दीर्घ आयुष्य प्राप्त करके (जरिमाणं) वृद्ध अवस्थाको (अस्तं इव) घरके समान (इत् जगम्याम्) प्राप्त होऊं।

(६) **अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।** (ऋ. ६।४७।४)= यह वही है कि जिसने पृथिवीका विस्तार और द्युलोक की (वर्ष्माणं) ऊंचाई की है।

(७) **वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा।** (ऋ. १।५९।७)=वैश्वानर यह अपने महत्वसे (विश्व-कृष्टिः) सब मनुष्यसमाजही है, जो (वि-भा-वा) विशेष तेजस्वी है और (भरद्-वाजेषु) अन्नपोषणके कर्मोंमें (यजतः) पूजा करने योग्य है।

(८) **तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवः।** (ऋ. १।८९।४)=वे पत्थर जिनसे सोमका रस निकाला जाता है सुखदायक हों।

(९) **युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इंद्रः।** ((ऋ. २।१२।६)=हे लोगो! (युक्त-ग्राव्णः सुत-सोमस्य) पत्थरोंका उपयोग करके जिसने सोमरस निकाला है उसका (अविता) रक्षण करनेवाला (सुशिप्रः) सुंदर हनुवाला यह इंद्र है।

(१०) **आ नो बर्हीं रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा।** (ऋ. १।२६।४)=(रिश-अदसः)शत्रु निवारक वरुण मित्र और अर्यमा ये तीनों (यथा मनुषः) मनुष्योंके समान (बर्हिः) अंदर (आ सीदन्तु) बैठें।

(११) प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते। (ऋ. १।५९।६)=(वृषभस्य) श्रेष्ठकी महिमा (प्रवोचं) वर्णन की है (पूरवः) बहुत लोग (वृत्र-हनं) शत्रुका नाश करनेवाले उस श्रेष्ठका (सचंते) सेवन करते हैं।

(१२)युष्मदेति मुष्टिहा बाहुजूतो युष्मत्सदश्वो मरुतः सुवीराः।(ऋ. ७।५८।४)=हे(मर्+उतः) मरनेके लिये तैयार वीरो! (युष्मत्) आपमें से ही (मुष्टि-हा) मुष्टिसे युद्ध करनेवाला (बाहु-जूतः) बलिष्ठ बाहुवाला वीर (एति) आगे होता है और आपमेंसे ही (सत्-अश्वः)उत्तम घोडेपर बैठनेवाला श्रेष्ठ वीर आगे बढता है।

(१३) त उक्षितासो महिमानमाशत। (ऋ. १।८५।२) वे बलिष्ठ होकर महत्वको प्राप्त होते हैं।

(१४) नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म। (ऋ. ६।२७।३) हे मघवन्। (ते समस्य) तेरे संपूर्ण (माहिमनः) महत्वका (नहि नु विद्म) हमें पता नहीं है तथा तेरे (मघवत्त्वस्य) धनसंपन्नताका भी हमें पूर्ण पता नहीं है।

(१५) अतश्चिदस्य महिमा विरेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव। (ऋ. ४।१६।५)—इससेभी इसका महिमा (विरेचि) बडा है जो सब भुवनोंमें फैला है।

(१६) ते ह नाकं महिमानः सचंत यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः। (ऋ. १।१६४।५०) वे स्वर्गमें महत्वके साथ पहुंचते हैं जहां पहिले साध्य देव हैं।

(१७) तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे । (ऋ. ९।६२।२७) हे कवी ! हे सोम ! ये सब भुवन तेरी महिमाके लिये ठहरे हैं ।

इसप्रकार अन्यान्य मंत्रोंमें नकारान्त शब्दोंके रूप देखकर पहचाननेका अभ्यास कीजिये ।

पाठ १५

केनसूक्त (अथर्वः २।१)

परि द्यावा—पृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ॥ वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४ ॥

पद—परि । द्यावा–पृथिवी । सद्यः । आयम् । उप । आतिष्ठे । प्रथम—जां । ऋतस्य । वाचं । इव । वक्तरि । भुवने–स्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥

अन्वय—द्यावा–पृथिवी सद्यः परि आयम् । ऋतस्य प्रथमजां उप आतिष्ठे । वक्तरि वाचं इव । एषः धास्युः भुवने–ष्ठाः ननु एषः अग्निः ।

अर्थ—द्युलोकसे पृथिवी तक सबका मैंनें (परि आयम्) निरीक्षण किया । और (सद्यः) अभी (ऋतस्य) सत्यके (प्रथम-जां) प्रथम उत्पादक आत्माकी (उपातिष्ठे) उपासना करता हूं । (इव) जिसप्रकार वक्तामें वाचा है उसप्रकार (एषः) यह

(धास्युः) धारण पोषण करनेवाला (भुवने–ष्ठाः) भुवनोंमें रहनेवाला परमात्मा है, (एषः) यह (ननु) निश्चयसे अग्नि है।

भावार्थ––द्युलोकसे पृथिवीपर्यंत जो जो पदार्थ हैं, उनमें सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करनेसे, सत्य नियमोंके प्रथमप्रवर्तक आत्माका ज्ञान होता है। उसी आत्माकी उपासना करनी चाहिये कि जो वक्तामें वाक्शक्तिके समान सब भुवनोंमें गुप्त रीतिसे रहा है। वही सबका धारक और पोषक है तथा वही सत्य अग्नि है। अग्निका तेज भी वहींसे आता है।

संधि––सद्यः+आयं=सद्य आयं। उप+आतिष्ठे=उपातिष्ठे। धास्युः +एष=धास्युरेष। ननु+एषः=नन्वेषः। एषः+अग्नि=एषो अग्निः।

शब्दोंका विशेष भाव––(१) **परि आयं**–अध्ययन पूर्वक सबका निरीक्षण और परीक्षण करनेका भाव इस शब्दमें है। पृथिवी, अंतरिक्ष, और द्युलोकमें जितने तत्व हैं, उन सबका तात्विक रीतिसे अध्ययन करके उनमें जो प्रेरक आत्मशक्ति है, उसका अनुभव करना चाहिये। (२) **भुवने–स्थाः**––जो उत्पन्न होता है, उसको भुवन कहते हैं। बनी हुई सृष्टि भुवनशब्दसे अभिप्रेत है। इस संपूर्ण सृष्टिमें वह व्यापता है। इसीलिये प्रत्येक पदार्थमें उसका निरीक्षण करना होता है। (३) **अग्निः**––अग्रणी ही अग्नि होता है। सब सृष्टिका वही आत्मा सच्चा अग्रणी है। इस मंत्रमें ' **अग्नि** ' शब्द आत्मावाचक स्पष्ट है।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ॥
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥९॥

पद—परि । विश्वा । भुवनानि । आयम् । ऋतस्य । तन्तुं । विततं । दृशे । कं । यत्र । देवाः । अमृतं । आनशानाः । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ।

अन्वय—ऋतस्य विततं तंतुं कं दृशे विश्वा भुवनानि परि आयम् । यत्र अमृतं आनशानाः देवाः समाने योनौ अधि ऐरयन्त ।

अर्थ—(ऋतस्य) सत्यके (विततं तंतुं) फैले हुए सूत्र रूप (कं) आनंदकारक आत्माको (दृशे) देखनेके लिये सब भुवनोंका निरीक्षण किया । (यत्र) जिस (समाने योनौ) एकही मूल स्थानमें अमृतका (आनशानाः देवाः) उपभोग लेनेवाले देव (अधि ऐरयन्त) इकट्ठे हो जाते हैं ।

भावार्थ—सब भुवनोंके लोक लोकांतर ये मणि हैं, उन मणियोंकी मणिमालाही यह सृष्टि है । इस सृष्टिरूपी मणिमालामें जो आत्मारूपी धागा, तांता अथवा सूत्र है, उसको देखनेसे मूल आधार का पता लग जाता है । और वही सूत्रात्मा मेरे हृदयमें भी है, ऐसा अनुभव होनेसे आनंद मिलता है । सब देव अमृतका आस्वाद लेते हुए, इसी मूलसूत्रमें जाकर इकट्ठे होते हैं, और आनंदपूर्ण अवस्थामें रहते हैं ।

शब्दोंका विशेष भाव—(१) **तंतुः**—इस शब्दका मूल अर्थ ‘ फैला हुआ, तना हुआ, सबमें व्यापक’ ऐसा है । धागा, तांता,

सूत्र येभी इसके अर्थ हैं। मालामें एक सूत्र होता है, और उसमें मणि अथवा फूल रखे जाते हैं। उन मणियों अथवा फूलोंमेंसे वह धागा अथवा सूत्र जाता है, सबका वही मूल आधार है। यदि एक स्थान पर धागा टूट जाय, तो माला नहीं रहती। इसीप्रकार सबमें व्यापा हुआ आत्मा है, इसलिये इसको सूत्रात्मा, सूत्ररूप आत्मा, कहते हैं। पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि गोल मणि हैं, उन सबमें यह आत्मा, सूत्ररूपसे, सबके बीचमें है, सबका आधार है। मणि टूट जाते हैं परंतु वह सूत्र अटूट है, इसीलियें उसको (२) **अमृत** कहते हैं, वह अमर है, इसलिये जो वहां पहुंचते हैं, वे भी अमर होते हैं। (३) **योनि**—मूल कारण, आदि कारण जहांसे सबकी उत्पत्ति होती है।

संधि—भुवनानि+आयं=भुवनान्यायं । योनौ+अधि+ऐरयन्त =योनावध्यैरयन्त ।

संधि नियम ।

(१) अ, इ, उ के सन्मुख क्रमशः अ, इ, उ आनेसे उनका दीर्घ होता है। अ, अ+अ, आ=आ । इ, ई+इ, ई=ई । उ, ऊ+उ, ऊ=ऊ । उदाहरण—

अकार का संधि

गुहा+अस्य=गुहास्य ।	अघ+अश्व=अघाश्व
आ+अ=आ	अत्र+आह=अत्राह
पिता+असत्=पितासत् ।	अघ+अग्ने=अघाग्ने
च+अकरं=चाकरं	एव+अरातिः=एवारातिः ।

इकार का संधि

स्तुहि+इदं=स्तुहीदं	अधि+इति=अधीति
इ+इ=ई	जहि+इदं=जहीदं
यदि+इदं=यदीदं	करोति+इंद्रं=करोतीद्रं

उकार का संधि

सु+उक्त=सूक्त	मंत्रेषु+उक्तं=मंत्रेषूक्तं
उ+उ=ऊ	सु+उच्येत=सूच्येत
सु+उपायनः=सूपायनः	गच्छतु+उत्तरः=गच्छतूत्तरः

(२) अ, आ के सन्मुख इ अथवा उ आनेसे क्रमशः उनके ए अथवा ओ हो जाते हैं। अ, आ+इ ई= ए। अ, आ+उ, ऊ= ओ। इसके उदाहरण— अ+इ=ए

अ+इ=ए	पूर्वेण+इषिता=पूर्वेणोषिता
अप+इंद्र=अपेंद्र	उत+इदानीं=उतेदानीं
अप+इमं=अपेमं	तस्य+इमं=तस्येमं
अस्य+इत्=अस्येद्	मधुना+इति=मधुनेति

अ+उ=ओ

इंद्र+ऊतिः=इंद्रोतिः	देव+उत्तमः=देवोत्तमः
उत+उत्तिठ=उतोत्तिष्ठ	पूर्व+उत्तरः=पूर्वोत्तरः
उष्ट्राय+उर्वी=उष्ट्रायोर्वी	सूर्य+उदयः=सूर्योदयः।

(३) इकारके सन्मुख विजातीय स्वर आनेसे इकारका य होता है। उदाहरण—

धेहि+एनं=धेह्येनं	पयांसि+उत्तमेन=पयांस्युत्तमेन
भवन्ति+अस्मिन्=भवन्त्यस्मिन्	यदि+अश्वं=यद्यश्वं
मयि+एव=मय्येव	जातासि+ओषधे=जातास्योषधे

(४) उकारके सामने विजातीय स्वर आनेसे उकारका व होता है। उदाहरण—

अप्सु+अंतः=अप्स्वन्तः	अनु+एष=अन्वेषः
अस्तु+इति=अस्त्विति	भुवनेषु+अंतः=भुवनेष्वन्तः।
भवन्तु+अप=भवन्त्वप	खनंतु+असुराः=खनन्त्वसुराः

(५) अ कारके सन्मुख ए, ऐ आनेसे ऐ होता है, और ओ, औ आनेसे औ अक्षर होता है। उदाहरण—

आ+एतु=ऐतु	न+एव=नैव
न+एतां=नैतां	इह+एव=इहैव
जल+ओघः=जलौघः	तस्य+ओदनेन=तस्यौदनेन
दिव्य+औषधं=दिव्यौषधं	तत्र+औदुंबरः=तत्रौदुंबरः

पाठ १६

महादेव और वृषभ।

यद्यपि इस समय शब्दोंके संपूर्ण नियम बोलनेके समय पालन नहीं किये जाते, तथापि आरंभमें किस भावनासे प्रेरित होकर शब्द उत्पन्न हो गये, यह बडा चित्ताकर्षक विषय है; और इसको जाननेसे शब्दोंकी योजना किस रीतिसे करनी चाहिये, इसका भी ज्ञान हो सकता है। कोई मनुष्य बोलनेके समय इन नियमोंसे प्रयोग करे, वा

न करे; वेदका विचार करनेके समय अक्षर, उनकी देवतायें और उनके कोमल, मध्यम और कठोर भाव अवश्य ध्यानमें धरने चाहिये।

कोमल अक्षरोंके शब्द—जिनका उच्चार कर्णकठोर नहीं है, मृदु, नरम अथवा कोमल है, ऐसे अक्षर तथा शब्द ऐसे ही पदार्थोंके लिये प्रयुक्त होने उचित हैं, कि जिनमें कोमलत्व, मृदुत्व, सुखस्पर्श होनेका गुण हो। अथवा उनसे कोमल भावोंका प्रकाश करना हो। जैसा—" **कमलं, नलिनं, सारसं, अंबुजं,** " ये शब्द कमलके वाचक हैं। कैसे इन शब्दोंमें अक्षर भी कोमल ही हैं। शब्दका उच्चार करते ही ऐसा प्रतीत होगा, कि ये शब्द किसी कोमल पदार्थका ही बोध दे रहे हैं। कोमल अक्षरोंसे बने शब्द कोमल पदार्थ-काही बोध करेंगे।

कठोर अक्षरोंके शब्द—जिन शब्दोंका उच्चार कठोर होता है, अथवा जिनमें कठिन अक्षर प्रयुक्त हुए हैं, ऐसे शब्द किसी कठोर पदार्थकाही भाव व्यक्त करेंगे अथवा मनकी कठोर भावनाका प्रकाश करेंगे। जैसा—" **शत्रुः, द्विट्, दुर्हृद्, द्विषन, विरुद्धः, द्रोहः,** " ये शब्द शत्रुके वाचक हैं। इनका उच्चार करनेके समय कैसे एक दूसरे पर आघात करने पडते हैं, इसको देखनेसे पता लगता है कि इन शब्दोंसे जिसका बोध होता है वहां कुछ न कुछ बुराई अवश्य होगी।

इसीप्रकार शांति, समता आदि बतानेवाले शब्दोंका उच्चार भी शांत होता है, उग्रता शौर्य वीर्य बताने वाले शब्दोंका उच्चारभी उग्र और कठोर होता है, गडबड बताने वाले शब्दोंसेही गडबड व्यक्त

होती है, और अन्य मनोभावनाओंके लिये अनुकूल ही शब्द हैं। आधुनिक काव्योंमेंभी इसके उदाहरण बहुत हैं। परंतु यह नियम सब कवि सर्वदा पालते ही हैं, ऐसी बात नहीं है। परंतु यदि कोई कवि इसप्रकार यत्न करना चाहे तो उसके लिये वैसे शब्द इस देवभाषामें तैयार हैं, इतनाही यहां बताना है।

पाठक यहां कई ऐसेभी उदाहरण दे सकते हैं, कि पदार्थ तो वास्तवमें कोमल हो, परंतु उसका नाम कठोर अक्षरोंसे बना हो। इसप्रकारके शब्दोंकी कवित्वकी व्यवस्था यह है; कि वहां यद्यपि पदार्थमें कठोरता नहीं है, तथापि कविको यदि कठोर भावनाकाही उस शब्द द्वारा आविष्कार करना हो, तो उसके लिये उस प्रकार के शब्द हैं। मनकी भावना विरुद्ध होनेपर मृदु पदार्थ भी दुःखस्पर्श वाला प्रतीत होता है, इस अवस्थामें ही उक्त प्रकारके शब्द प्रयुक्त होने चाहिये।

यह लिखनेका तात्पर्य यही है, कि देवभाषाके शब्द मूलमें विशेष भावसे बने हैं। ये दैवी शब्द हैं। दैवीभावनासे ये शब्द युक्त हैं। प्रत्येक अक्षरमें देवता रहती है, इसलिये उस देवताका वीर्य उस अक्षरमें है। प्रत्येक देवताका वीर्य, शक्ति, प्रभाव मनोभावना भिन्नभिन्न है। इसलिये दो चार देवताओंके संघोंसे जैसा एक विलक्षण कार्य हो सकता है, उसीप्रकार उन देवताओंका संबंध जिन अक्षरोंके साथ है, उन अक्षरोंसे बने हुए शब्दरूप संघसेभी उसीप्रकारकी विलक्षण शक्ति अथवा मनोभावना उत्पन्न होना अत्यंत स्वाभाविक ह। यही भाव उक्त स्पष्टीकरणसे बताया है। यहां

प्रत्येक शब्दका निरूपण करनेके लिये समय नहीं है, और वैसा करनेके लिये जितनी योग्यता चाहिये, उतनी भी इससमय किसीके पास नहीं होगी। परंतु शब्दकी शक्तिके विषयमें जो मूलभूत बात है, वह सारांशसे ऊपर दी है। इसीलिये शब्दको वेद **'महो देवः'** कहते हैं। शब्द न केवल **'बडा देव'** है परंतु वह देवताओंका संघ भी है। पाठक कल्पना कर सकते हैं कि, देवंताओंके संघमें कितनी विलक्षण शक्ति रह सकती है। इस शब्दरूपी **'महादेव'** के विषयमें वेद कहता है--

> **चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥** ऋ. ४।५८।३

(१) **अस्य चत्वारि शृंगाणि**=इसके चार सींग हैं। (२) **त्रयः पादाः**=तीन पांव हैं। (३) **द्वे शीर्षे**=दो सिर हैं। (४) **अस्य सप्त हस्तासः**=इसके सात हाथ हैं। (५) **त्रिधा बद्धः वृषभः रोरवीति**=तीन प्रकारसे बंधा हुआ यह वृषभ शब्द करता है। (६) **महो देवः मर्त्यान् आ विवेश**= यह बडा देव मनुष्योंमें आवेश उत्पन्न करता आया है।

यह शब्दका वर्णन है। भाषाका वंर्णन इस मंत्रमें उत्तम प्रकारसे आगया है। यह मंत्र अग्निदेवता का है। पाठक पूच्छेंगे कि, अग्निका भाषाके साथ क्या संबंध है? उत्तरमें निवेदन है कि **'अग्नि वाणीका रूप धारण करके मुखमें प्रविष्ट हुआ है।'**

ऐसा ऐतरेय उपनिषद् में कहा है (ऐ. उ. १ । १) "**भाषा अथवा शब्द यह एक विलक्षण आग्नेय शक्ति**" **है**, यह वेद और उपनिषदोंका सिद्धांत है । पंचभूतोंमें अग्नि तत्व ही तेजस्वी है, उसीप्रकार सब इंद्रियोंमें वागिंद्रियकी तेजस्विता अत्यंत है । जगत्में शब्दका सामर्थ्य देखने योग्य है । यदि शब्द अथवा भाषा किंवा वाणी न होती, तो सहस्रों वर्षोंका इतिहास जो आज मिलता है । कैसे मिल सकता था? शब्दोंसे मित्र होते हैं और शत्रु भी बनते हैं । इसप्रकार इस शब्दमें बडा प्रभाव और वीर्य है । इसीकारण उक्त मंत्रमें इस शब्दको '**महोदेव**' और '**वृषभ**, कहा है । **वृषभ**, शब्द वीर्यका द्योतक है । "**वृष, वृषण, वृषभ, वृषन्**", आदि शब्दोंमें 'वीर्य प्रधानताके कारण मुख्यता' का भाव तथा 'पौरुष और पुरुष शक्ति की विशेषता' है । भाषामें '**वृषभ**' शब्द बैलका वाचक है, तथापि '**मनुष्य-वृषभ**' का अर्थ 'मनुष्योंमें श्रेष्ठ किंवा मुख्य' ऐसा ही होता है । तात्पर्य श्रेष्ठत्वदर्शक ही अर्थ वृषभशब्दमें मुख्य है अन्य अर्थ गौणवृत्तिके हैं । '**महोदेव**' शब्दका 'महा-देव' अर्थ स्पष्ट ही है । **वृषभ** (बैल, नंदी) और **महादेव** (शिव शंकर) की पुराणोंमें लिखी कल्पना यहां पाठक देख सकते हैं । महादेव के मंदिरमें जब कोई जाते हैं , तब प्रथम अपने सीधे हाथसे नंदीका वृषण पकड कर और उसके दो सींगोंपर दूसरे हाथकी दो अंगुलियां रख कर उनके बीचमेंसे महादेवजीका दर्शन लेते हैं । उनका ख्याल है कि इसप्रकारही दर्शन करना चाहिये, अन्यथा किया हुआ दर्शन व्यर्थ है । बैलको दो सींग होते हैं उनमें अपनी दो अंगुलियां

मिलानेसे चार सींग होते हैं। इन चार सींगोंमेंसे महादेव का स्वरूप देखना है। उक्त मंत्रमें महादेव और वृषभ ये दो शब्द 'शब्द' के वाचक हैं। भगवान् पतंजलीने अपने व्याकरण महाभाष्यके प्रारंभमें ही इसी मंत्रकी इसीप्रकार व्याख्या की है। शब्दको किस रीतिसे देखना चाहिये इसका उपदेश उक्त विधिमें है। इसके **चार सींग**—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। **तीन पांव**—भूत भविष्य वर्तमान। **दो सिर**—नित्य और कार्य शब्द। **सात हाथ**—सात विभक्तियां। **तीन स्थानोंमें बंधा है**—छाति, कंठ और मुखमें बंधा है। ऐसा यह **'महादेव'** है। शब्दका जब वीर्य लिया जाता है, तभी शब्दका ठीक ज्ञात होता है। विशेषतः वेदके शब्दोंके विषयमें यह सबसे अधिक सत्य है। वेदका केवल शब्दज्ञान होनेसे वेदका अर्थ नहीं ज्ञात हो सकता; जबतक शब्दका वीर्य न प्राप्त होगा। महादेवके मंदिरमें शब्दका वीर्य लेनेके उद्देशसे **'नंदीका वृषण'** पकडा जाता है, और नाम आख्यात उपसर्ग निपात रूपी चार सींगोंमेंसे शब्दरूपी महादेवका निरीक्षण होता है।

शब्दमें जो वीर्य है, वही अक्षरोंकी देवताओंकी शक्ति है इसको जानने से ही शब्दके महत्वका पता लगता है। शब्दोंका भाव अक्षरोंके बीचमें होता है। वाक्यका भाव शब्दोंके बीचमें होता है तथा मंत्रका भाव पंक्तियोंके बीचमें होता है। दो अथवा चार पंक्तियोंके बीचमें (between the lines) देखनेसे अथवा पढनेका अभ्यास करनेसे मंत्रका आशय ज्ञात हो सकता है। वेदके अध्ययनमें जो

पारिश्रमकी बात है वह यही है। यही वेदकी गुप्तता है। इसीको " गुह्यात् गुह्यतरं महत्। " गुह्यसे परमगुह्य कहते हैं। इस असाधारण बातका अन्वेषण करनेके लिये पाठकोंको तैयार होना चाहिये। यह एक प्रकारकी विशेष दृष्टि है जो निरंतर के स्वाध्यायसे प्राप्त हो सकती है।

पाठ १७

अब इस पाठमें ' वस् ' जिनके अंतमें होता है, ऐसे शब्दोंके पुल्लिंगी रूप बताये जाते हैं।

' तस्थिवस् ' शब्दके रूप।

१	तस्थिवान्	तस्थिवांसौ	तस्थिवांसः
सं.	हे तस्थिवन्	”	”
२	तस्थिवासं	”	तस्थुषः
३	तस्थुषा	तस्थिवद्भ्यां	तस्थिवद्भिः
४	तस्थुषे	”	तस्थिवद्भ्यः
५	तस्थुषः	”	”
६	”	तस्थुषोः	तस्थुषां
७	तस्थुषि	”	तस्थिवत्सु

इसीप्रकार निम्न लिखित शब्दोंके रूप होते हैं।

शब्द

विद्वस्=विद्वान, ज्ञानी	**जाग्मिवस्**=चलनेवाला
अंतर्विद्वस्=बीचका भाग जानने वाला	**उत्तस्थिवस्**=उठनेवाला
अविद्वस्=न जाननेवाला	**पपिवस**=पीनेवाला
चिकित्वस्=ज्ञानी	**तास्थिवस्**=ठहरा हुआ
	ददिवस्=देनेवाला

(१) **ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः** । (ऋ. १।३३।१५)= (अत्र) यहां [ज्योक् तस्थिवांसः चित्] चिरकालसे ठहरे हुए [अक्रन्] शत्रुत्व करते हैं उन [शत्रूयतां] शत्रुके समान आचरण करनेवालोंका [वेदना] ज्ञान [अधरा अकः] तुमने नीचा किया है ।

(२) **विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसं** । (ऋ. १।७२।४)=(नेम-धिता मर्तः) द्वंद्वोंमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य (चिकित्वान्) ज्ञान प्राप्त करके (परमे पदे तास्थिवांसं अग्निं) परम स्थानमें रहनेवाले अग्नि-आत्मा-को (विदन्) जानता है । [यहांका अग्नि शब्द आत्माका वाचक है]

(३) **मानेनेव तस्थिवाँ अंतरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण** । (ऋ. ५।८५।५)=जिस (अंतरिक्षे तस्थिवान्) अंतरिक्षमें रहनेवालेने (मानेन इव) प्रमाणकेसाथ सूर्यके समेत पृथिवीको (विममे) निर्माण किया ।

(४) क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाऽभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम् । (ऋ. ४।४।९)=(जनानां अभि तास्थिवांसः) लोगोंके आगे बढते हुए (द्युम्ना) तेजस्विताके साथ (क्रीळन्तः) खेलते अथवा आनंदित होते हुए (सु–मनसः) उत्तम विचार धारण करने वाले हम (त्वा सपेम) तेरी ही पूजा करेंगे ।

(५) युंजन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि । (ऋ. १।६।१)= जिसके (रोचना) किरण (दिवि रोचन्ते) द्युलोकमें चमकते हैं, उस (अ–रुषं) अहिंसक (परि चरंतं) और परिचारक अर्थात् सहायक (ब्रध्नं) विशाल सूर्यके साथ (तस्थुषः) सब स्थावर पदार्थ (युंजंति) जुडे हैं । उसके आधारसे रहे हैं ।

(६) ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन्तदुदीयुराविशम् । (ऋ. २ । २४ । ६) वे विद्वान (अनृता प्रति चक्ष्य) असत्यको देखकर, (पुनः) फिर (यतः उ आयन्) जहां से आयेथे (तत् उदीयुः) उसी ओर चले और (आविशं) अंदर प्रविष्ट हुए ।

(७) विद्वाँ आ वक्षि विदुषो निषत्सि मध्य आ बर्हिरूतये यजत्र । (ऋ. ३।१४।२)=हे याजक ! तू (विद्वान्) जानता हुआ (विदुषः आवक्षि) ज्ञानियोंको ले आओ और (ऊतये) संरक्षण करनेके लिये (बर्हिःमध्ये आ निषत्सि) आसनोंके बीचमें बैठ ।

(८) **अंतर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवः ।** (ऋ. १।७२।७)= (देव–यानान् अध्वनः) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंके (अंतः-विद्वान्) बीचका संपूर्ण ज्ञान रखनेवाला तू (अ—तंद्रः दूतः अभवः) फूर्तिला दूत हुआ है।

(९) **तमीं होतारमानुषक्चिकित्वांसं निषेदिरे ।** (ऋ. ४।७।९)=(तं चिकित्वांसं) उस ज्ञानीको (ईं) ही (होतारं) होता (आनुषक् निषेदिरे) हमेशा किया है।

(१०) **इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयंति ।** (ऋ. ७।६०।७)=(इमे) ये (दिवः पृथिव्याः चिकित्वांसः) द्युलोक और पृथिवीका ज्ञान प्राप्त करके (अ-निमिषा) आंख बंद न करते हुए (अ-चेतसं) अज्ञानीको (नयंति) चलाते हैं। स्वयंज्ञानी बनकर दूसरेको उपदेश करते हैं।

(११) **ये त इंद्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च ।** (ऋ. १।९४।८) =हे इंद्र ! (ते ददुषः) तुझ दाताका (ये) जो (महि क्षत्रं) बडा शौर्य (स्थविरं वृष्ण्यं) महान बल (वर्धयन्ति) बढाते हैं।

(१२) **अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य ।** (ऋ. ७।३९।२) =हे (उरु-ज्रयः) भ्रमणशीलो ! (अर्वाक् पथः कृणुध्वं) अपना मार्ग इस ओर कीजिये, (नः जग्मुषः अस्य) चलनेवाले हमारे इस दूतका (श्रोत) सुनिये।

(१३) देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि यंजन्तु वीरान् । (अथ. ६।९३।१]=ये देव जन सेनाके साथ उठते हुए हमारे वीरोंको सब प्रकारसे परिपूर्ण करें ।

(१४) कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः । (ऋ. ३।४३।५)=(कुवित्) किसी प्रकार (सुतस्य पपिवांसं) सोम पीनेवाला ऋषि [मा] मुझे बनाया जावे और कोई मुझे (अमृतस्य वस्वः) अमृत ज्ञानकी (शिक्षाः) शिक्षा देवे ॥

(१५) यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयं । (अथ. ६।११५।१)=जो जानते हुए अथवा न जानते हुए हम (एनांसि) पाप करते हैं ।

(१६) ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति । (अथ.१०।८।१७)=(अर्वाक् मध्ये) आजकल, मध्य-काल में तथा पुराणे समयमें भी (वेदं विद्वांसं) वेद जानने वालेकी ही (ये अभितः वदन्ति) जो प्रशंसा करते आये हैं ।

(१७) प्रतद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा-यत् । (अथ. २।१।२)=अमृतका जाननेवाला (गां–धर्वः) वक्ता जो परम गुप्त धाम है उसके विषयमें (प्रवोचेत्) उपदेश करे ।

(१८) प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बंधुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति । (अथ. ४।१।३)=(अस्य विद्वान् बंधुः) इसका विद्वान्, बंधु जो (देवानां विश्वा जनिमा) देवोंके सब प्रभाव (विवक्ति) कहता है (प्र जज्ञे) प्रकट हुआ है ।

(१९) य एवं विदुषे दत्त्वाथान्येभ्यो ददद्वशाम् । (अथ. १२।४।२३)=जो इसप्रकार विद्वानको देकर (अथ) पश्चात् (अन्येभ्यः) दूसरोंके लिये (वशां) उत्तम गौको देता है ।

(२०) स यं एवं विदुष उपद्रष्टा भवति । (अथ. ११। ९।९)=वह इसप्रकार विद्वानका निरीक्षक होता है ।

(२१) नास्याऽस्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति । (अथ. १९।१२।११)=(अस्य) उसकेलिये इस लोकमें (आयतनं) कोई स्थान (न शिष्यते) नहीं शेष रहता, जो इसप्रकार विद्वान (व्रात्येन) अतिथीको छोडकर हवन करता है ।

इन मंत्रोंमें ' **वस्** ' अंतवाले शब्दोंके रूप पाठक देखें और पहचानें । तथा इसीप्रकार अन्य वस्वंत शब्दोंके रूप करनेका प्रयत्न करें । इन शब्दोंके रूपोंमें जो विशेषता है उसका स्मरण रखनेसे वस्वंत शब्दोंके रूप बनाना कोई कठिन कार्य नहीं है ।

पाठ १८

(१)

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ॥ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ अथर्व. २।२।१

अन्वय—यः दिव्यः गंधर्वः भुवनस्य एक एव पतिः । विक्षु

नमस्यः ईड्यः । हे दिव्य देव ! तं त्वा ब्रह्मणा यौमि । ते नमः अस्तु । ते दिवि सध–स्थम् ॥

अर्थ—जो दिव्य (गं–धर्वः) वाणीका प्रेरक सृष्टिका एकही पति है, वही (विक्षु) प्रजाओंमें नमन करने योग्य और (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है । हे दिव्य देव ! (तं त्वा) तेरे साथ (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (यौमि) मिलता हूं । तुझे नमस्कार है । तेरा (दिवि) द्यु लोकमें (सध–स्थं) स्थान है ।

भावार्थ—जो संपूर्ण जगत् का एकही स्वामी है और जो द्युलोकमें रहता है उसीकी पूजा करना योग्य है । उसके साथ ज्ञानसे युक्त होकर रहना चाहिये । और उसी को नमन करना चाहिये ।

संधि—दिव्यः+गंधर्वः=दिव्यो गंधर्वः । यः+पतिः=यस्पतिः । एकः+एव= एकएव ! विक्षु+ईड्यः=विक्ष्वीड्यः । नमः+ते=नमस्ते, नमस्यः+विक्षु=नमस्यो विक्षु ।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **गंधर्व**—(गं, गां) वाणी, भूमि, सूर्यादि गोल आदिका धारण करनेवाला । (२) **ब्रह्म**—ज्ञान, स्तुति, स्तोत्र, आत्मा ।

(२)

सं सिंचामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ॥
सं सिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ अथर्व २।२६।४

अर्थ--(गवां क्षीरं) गौओंका दूध (सं) उत्तम प्रकारसे (सिंचामि) सेवन करता हूं, (बलं रसं) बलकारक रसको (आज्येन) घीके साथ सेवन करता हूं । (अस्माकं वीराः) हमारे वीर (सं सिक्ताः) घी और दूधसे उत्तम सींचे रहें । (मयि गो-पतौ) मेरे पृथिवीपति के होते हुए (गावः ध्रुवाः) गौवें स्थिर रहें ।

भावार्थ—गायका दूध, घी आदि गोरस बलवर्धक है, इसलिये सबको इसका सेवन उत्तम प्रकार करना चाहिये । हरएकको उचित है, कि वह गौवोंका पालन करे और बालबच्चों समेत स्वयं दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदिका यथेच्छ सेवन करे ।

(३)

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् ॥
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥

अथर्व. २।२६।५

अर्थ—(गंवा क्षीरं आहरामि) गौओंका दूध मैं प्राप्त करता हूं । (धान्यं रसं आहार्षं) धान्य और रस मैंनें प्राप्त किया है । (अस्माकं वीराः आहृताः) हमारे वीर लाये गये हैं । (पत्नीः इदं अस्तकं आ-हृताः) पत्नियां भी इस घरमें लायीं गई हैं ।

भावार्थ--वीरोंके साथ उनकी धर्मपत्नियां घरमें लाई जांय और गौका दूध धान्य, रस आदिका उत्तम प्रबंध किया जावे ।

संधि—गावः+मयि=गावो मायि । आहृताः+अस्माकं=आहृता अस्माकं । पत्नीः+इदं=पत्नीरिदं ।

(४)

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ॥ यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ अथर्व. २।२८।४

अर्थ—(द्यौः पिता) द्युलोक पिता है, (पृथिवी माता) भूमि माता है। ये दोनों (सं–विदाने) मिलकर (त्वा) तेरा (जरा–मृत्युं) वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करें। (यथा) जिससे तूं (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (अदितेः उपस्थे) अपनी भूमिकी सेवामें, मातृभूमिकी सेवामें (शतं हिमाः) सौ वर्ष (जीवाः) जीवित रहो।

भावार्थ—मातृभूमिकी कृपासे तू पूर्ण आयुका उपभोग ले सकता है। प्राणायामसे तेरा संरक्षण हो सकता है, और तू अपने प्राणों और अपानोंको बलवान बनाकर सौ वर्षकी आयुकी समाप्तितक मातृभूमीकी सेवा कर सकता है।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **अदिति**—‘ दिति ’ का अर्थ बंधन है और ‘ अ–दिति ’ का अर्थ बंधनरहित अवस्था अर्थात् स्वतंत्रता है। अदन अर्थात् भक्षण करनेकेलिये धान्यादि देनेवाली भूमिभी अदिति है वह सबकी माताही है। (२) **उप–स्थ**—उपस्थान, उपासना, भक्ति करना, सेवा करना, पास रहना, संनिध होना।

(३) **जरामृत्यु**—(जरा) वृद्धावस्थाके पश्चात् होनेवाला मृत्यु ।
पूर्ण आयुके पश्चात् जो मरण आता है वह मृत्यु ।

संधि—द्यौः+त्वा=द्योष्ट्वा । जीवाः+अदितेः=जीवा अदितेः ।
अदितेः+उप=अदितेरुप ।

(५)

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ॥ अलगण्डू-
न्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जंभयामसि ॥

अथर्व. २।३१।२

अर्थ—(दृष्टं अदृष्टं) दीखने वाले और न दीखने वाले कृमीको (अतृहं) मैंनें नष्ट कर दिया है । (अथो) और (कु-रूरुं) भूमिपर रेंगने वाले कीडोंका (अतृहं) नाश किया है । (अलग-ण्डून, शलुनान् क्रिमीन्) इन क्रिमियोंका (वचसा) शब्दसे (जंभ-यामसि) नाश करता हूं ।

भावार्थ—रोग उत्पन्न करनेवाले कृमियोंका नाश करना चाहिये ।

(६)

अन्वांत्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ॥
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जंभयामसि ॥

अथर्व. २।३१।४

अर्थ—(अनु-आंत्र्यं) आंतों में रहनेवाले (शीर्षण्यं) मस्तकमें उत्पन्न होनेवाले (अथो पार्ष्टेयं) और पसलियों में होनेवाले क्रिमि-

योंको, तथा (अव–स्कवं) नीचे चलनेवाले (वि–अध्व-रं) विशेष-कुपथ्यसे होनेवाले जो क्रिमि हैं उनका शब्दसे नाश करता हूं।

भावार्थ—शरीरके विविध अंगों और अवयवोंमें रहते हुए ये कृमि विविध रोग पैदा करते हैं, इसलिये इनका नाश करना चाहिये।

शब्दका विशेष अर्थ—(अध्व-) मार्गके अनुकूल (र) रहनेका नाम है अध्व-र। इसीको पथ्य कहते हैं, पथ अर्थात् मार्गके अनुकूल। जो पथ्य नहीं होता है उसको कुपथ्य कहते हैं। वही भाव वि+अध्व–र=व्यध्व-र ' शब्दद्वारा व्यक्त होता है। सब दोष और रोग बीज कुपथ्यसे ही होते हैं।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः॥
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम
क्रिमीणाम्॥ अथर्व. २।३१।५

अर्थ—जो क्रिमी पर्वतों, वनों, ओषधियों, पशुओं, और जलों में होते हैं, जो हमारे (तन्वं) शरीरमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हैं, उन (क्रिमीणां) कृमियोंकी (सर्वं तत् जनिम) सब उत्पत्तिको (हन्मि) नष्ट करता हूं।

भावार्थ—रोग उत्पन्न करनेवाले कृमि उक्त स्थानोंमें होते हैं और विविध प्रकारसे शरीरमें जाकर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिये उनकी उत्पत्ति ही बंद करनी चाहिये। ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि ये उत्पन्नही न हों।

संधि——अलगण्डून्+सर्वान्=अलगण्डून्त्सर्वान् । यहां बीचमें तकार आगया है । वनेषु+ओषधीषु=वनेष्वोषधीषु । पशुषु+अप्सु= अंतः=पशुष्वप्स्वन्तः । तत्+हन्मि=तद्धन्मि । इसमें तकारका दकार और हकारका धकार होगया है । तत+हस्तः=तद्धस्तः । तस्मात्+ह्ययं=तस्माद्धयं । इत्यादि संधियोंमें उक्त प्रकार त का द और हका ध होता है ।

पाठ १९

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ।

जो '**महादेव**' शब्दका रूप पहिले बताया है, उसीका अब विस्तारपूर्वक वर्णन करना है । (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग और (४) निपात ये शब्दरूपी '**वृषभ**' के चार सींग हैं । नामोंका विचार '**वेद–स्वयं–शिक्षक** के पाठोंमें पहिलेसे होता आया है । इस विभागमें और पहिले विभागमें पुल्लिंग और नपुसंक लिंग नामोंके सातों विभक्तियोंके रूप बनानेकी रीति पाठकोंके सन्मुख रख दी है और तृतीय विभागमें स्त्रीलिंगी नामोंका विचार पूर्णतया पाठकोंके सन्मुख रखा जायगा । तात्पर्य नामोंके विचारसे पाठक थोडेसे परिचित होचुके हैं । पदार्थोंके जो नाम होते हैं उनकोही व्याकरणमें नाम संज्ञा होती है जैसे,—**सूर्य, उषा, प्रजापति, भानु, कर्तृ, रै, गौ;** आदि शब्द नाम कहलाते हैं । पूर्व पाठमें दिये हुए मंत्रमें कहा है कि इसके '**सात हाथ**' होते हैं । जो नामोंकी सात विभक्तियां होतीं हैं; वेही इसके सात

हाथ हैं । पाठक इस समयतक कई नामोंके सात हाथोंके साथ अच्छी प्रकार परिचित हो चुके हैं, और थोडी देरमें संपूर्ण नामोंकी सातों विभक्तियोंके रूप बनानेकी योग्यता उनमें आ जायगी । इसप्रकार ' **नाम–विचार** ' पाठकोंके परिचयका हो चुका है ।

उक्त ' **वृषभ** ' का दूसरा सींग ' **आख्यात** ' है । आख्यात शब्द क्रियापदोंका बोध करता है। **गच्छति**–जाता है । **पचति**–पकाता है । **वदति**–बोलता है । ये सब आख्यात कहे जाते हैं । इस आख्यात का विषय तीसरे विभागमें पाठक देख सकेंगे । इस लिये इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ;

शब्दका तीसरा सींग ' **उपसर्ग** ' है । उपसर्ग शब्दसे संस्कृत भाषामें ' आपत्ति, कष्ट, दुःख; जो पीछेसे संकट आता है, उसका बोध ' होता है । यही बात यहां भी है । जिस धातुके पीछे ये उपसर्ग लगते हैं, उसका अर्थ उलट पुलट कर छोडते हैं । धातुओंपर यह एक बडीभारी आपत्तिही है, इसके उदाहरण इसी पाठमें पाठक देख सकते हैं । ये उपसर्ग २२ हैं । ये धातुके सन्मुख नहीं आते, परंतु हमेशा धातुके पीछे पीछेही रहते हैं । वैदिकभाषामें हमेशा धातुके साथ न रहते हुए धातुके अर्थोंको अपनी इच्छानुसार बदलते रहते हैं, परंतु संस्कृतभाषामें ये एक समय जिस धातुके पीछे लगते हैं, उसको कभी छोडते नहीं । इसप्रकार ये सब धातुओंके पीछे पडकर उनको तंग करते हैं । अब इनका प्रभाव देखिये—

२२ उपसर्ग ।

प, परा, अप, सं, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आ, नि अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप । ये २२ उपसर्ग हैं । अब ये धातुके पीछे लगकर उसका अर्थ किस प्रकार बदलते हैं, देखिये——

(१) **प्र**——अधिक, आगे, विशेष । **प्रगतिः**—उन्नति । **प्रस्थानं**–चलना, **प्रभुत्वं**–स्वामित्व । **प्रज्ञा**–बुद्धि । **प्रार्थना**–– मांगना ।

(२) **परा**——पीछे अधिक । **परागतिः**–पीछे भागना । **पराभवः**–पराजय । **पराक्रमः**–दिग्विजय ।

(३) **अप**–वियोग, विरुद्ध, दूर होना । **अपकारः**–दुःख, कष्ट, हानी । **अपकर्षः**–नुकसान, अवनति । **अपगतिः**–दुर्दैव, बुरी अवस्था । **अपगल्भः**–भीरु, भ्रष्ट । **अपगुणः**–गुणहीन, दुर्गुणी ।

(४) **सं**—एक होना, मिलना, उत्तम । **संगतिः**–एक होकर रहना, संग । **संभूतिः**–एकतासे होना, उत्पन्न होना । **संस्था**–एक होकर मिल जुलकर रहना । **संज्ञानं**—उत्तम ज्ञान । **संस्कारः**–उत्तम करना ।

(५) **अनु**—पीछेसे साथ रहना । **अनुगमनं**–पीछेसे आना । **अनुभवः**, **अनुभूतिः**–ज्ञान, अनुभव । **अनुष्ठानं**–यथास्थित कर्म करना । **अनुकरणं**–अनुकूल करना ।

(६) **अव**—नीचे, दूर, परे । **अवगतिः**—नीचे तक जाना, ज्ञान । **अवस्थानं**–स्थिर रहना । **अवज्ञा**–अपमान ।

(७) **निस्**—दूरता, निश्चय, पूर्णता । **निःशेष**–संपूर्ण, **निष्फलं**–व्यर्थ । **निष्कलंक**–निर्दोष । **निःश्रीकः**–निर्धन । **निःश्रेयस्**–उत्तम कल्याण ।

(८) **निर्**—दूर, हीन, न्यून । **निर्दोष**—दोषहीन । **निर्गमनं**—बाहिर जाना । **निरर्थक**—व्यर्थ । **निर्वेदः**–दुःखित, उदासीन ।

(९) **दुस्**—बुरा । **दुष्कर**–कठिन । **दुष्वप्नं**–बुरा स्वप्न । **दुःशील**–बुरा स्वभाव । **दुःस्थित**–बुरी अवस्थामें पडा हुआ ।

(१०) **दुर्**—बुरा । **दुर्गति**–बुरी गति । **दुरात्मन्**–बुरा आत्मा । **दुर्भाव**–बुराभाव । **दुर्मति**–दुष्टबुद्धि ।

(११) **वि**—वियोग, विभाग, विशेष, विरोध । **विकंप**–विशेष कांपना । **विनाश**–विशेष नाश, नाश रहित । **विकृति**–व्याधि, विरुद्ध कृति ।

(१२) **आ**—पास, । **आगमनं**—आना । **आदानं**—लेना । **आकर्षणं**—खींचना । **आज्ञा**—हुक्म ।

(१३) **नि**—नीचे, निःशेष, निश्चय । **निषद्** —बैठना । **निपद**—नीचे गिरना । **निपुण**–कुशल । **निकट**—पास ।

(१४) **अधि**—ऊपर । **अधिगमनं**—ज्ञान । **अधिकार**—स्वामित्व । अधिपति, अधिराज ।

(१५) **अपि**—पास, साथ। **अपिधानं**—आच्छादन । **अपि-शर्वर**—रात्रीके प्रारंभमें ।

(१६) **अति**—अतिशय, अतिक्रमण । **अतिक्रमणं**—उल्लंघन करके जाना । **अतिकृतिः**—अधिक करना ।

(१७) **सु**—उत्तम सुंदर । **सुगम**—सुबोध । **सुकर**—करनेमें सुगम । **सुबोध**—जाननेके लिये उत्तम ।

(१८) **उत्**—ऊपर, उत्तम । **उत्थान**—उठना । **उद्यान**—ऊपर जाना । **उद्भव**—उत्पन्न होना ।

(१९) **अभि**—सर्वतः चारों ओरसे । **अभिगमन**—सब प्रकार हमला करना । **अभिभव**—पराभव । **अभियोग**—युद्ध ।

(२०) **प्रति**—पास, विरोध, उपर, सदृश । **प्रतिगमन**—वापस आना । **प्रतिष्ठा**—स्थिर होना । **प्रतिकृति**—सदृशाकृति । **प्रतिज्ञा**—निश्चय कहना ।

(२१) **परि**—सब ओरसे, विरोध, बहुत । **परिषिंचन**—चारों ओर सींचना । **परीक्षा**—निरीक्षण ।

(२२) **उप**—पास । **उपासना**—पास बैठना । **उपस्थान**—पास स्थान । **उपकार**—मेहेरबानी । **उपभोग**—भोग ।

इसप्रकार ये उपसर्ग धातुओंके अर्थ बदलते हैं । उक्त उदाहरणमें धातुओंके स्थानपर धातुसे बने हुए शब्द रखे हैं । उनमें ही पाठक धातु देख सकते हैं । जैसा—**प्रगति** धातु—(प्र+गम्)=उन्नति करना । इससे ‘ प्रगति ’ शब्द बना है । **प्रस्थानं**—(प्र+स्था)

=दूसरे गांवको जानेके लिये चलना । इससे 'प्रस्थान' शब्द बना है। (प्र+भु) धातुसे प्रभुत्व शब्द बना है। इसीप्रकार अन्यत्र शब्दोंमें धातुओंको देखना उचित है।

'**गम्**'—धातुका अर्थ—जाना है।

(१) **प्रगम्**—अधिक उन्नति करना।
(२) **परागम्**—पीछे हटना।
(३) **अपगम्**—बुरी अवस्थामें पहुंचना।
(४) **संगम्**—मिलना, एक होना।
(५) **अनुगम्**—पीछे से जाना।
(६) **अवगम्**—अवगत होना।
(७) **दुर्गम्**—कठिनतासे जाना।
(८) **उद्गम्**—ऊपर जाना।
(९) **आगम्**—आना।

इसप्रकार अर्थोंका भेद होता है। संपूर्ण संस्कृतभाषामें सर्वत्र उपसर्ग प्रयुक्त होते हैं और अर्थोंका भेद करते हैं। इस बातका अनुभव पाठक सर्वत्र कर सकते हैं।

पाठ २०

इस पाठमें तकारान्त शब्दोंके पुल्लिंगमें रूप बताने हैं।

'अभिजित्' शब्दके रूप।

१	अभिजित्	अभिजितौ	अभिजितः
सं.	हे ,,	,,	,,
२	अभिजितं	,,	,,

३	अभिजिता	अभिजिद्भ्यां	अभिजिद्भिः
४	अभिजिते	,,	अभिजिद्भ्यः
५	अभिजितः	,,	,,
६	,,	अभिजितोः	अभिजितां
७	अभिजिति	,,	अभिजित्सु

निम्न शब्दोंके रूप इसी शब्दके समान होते हैं ।

शब्द ।

अनुकामकृत्=अनुकूल कार्य करनेवाला

अंतरिक्षप्रुत्=अंतरिक्षसंचारी

अप्सुजित्=जलमें विजयी, कर्मोंमें विजयी,

आजिकृत्=युद्ध करनेवाला

अच्युतच्युत्=न हिलानेवालोंको भी हिलानेवाला

अबंधुकृत्=भाईसे भिन्न किसीका बनाया हुआ

वसुजित्=धन कमानेवाला

विश्वजित्=सबका जेता

कृच्छ्रेश्रित्=मुष्किलमें सहायता लेने योग्य

आयुष्कृत्=आयु बढानेवाला

एकवृत्=व्यापक, एकरूप

मधुश्चुत्=मीठास देनेवाला

मरुत्=वायु, वीर

यज्ञकृत्=यज्ञकर्ता

राष्ट्रभृत्=राष्ट्रसेवक, राष्ट्रपोषक

लोकजित्=लोकोंका विजयी

विश्वभृत्=सबका भरण करता

विपश्चित्=ज्ञानी

उक्त शब्दोंके रूप जिन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुए हैं, उन मंत्रोंको निम्न स्थानमें देखिये और उनमें शब्दोंके रूप पहचानिये ।

(१) **अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे। देवेभ्यो अनुकामकृत् ।** (ऋ. ९।११।७)=हे सोम ! (देवेभ्यः अनुकामकृत्) देवोंके अनुकूल कर्म करता हुआ (गवे शं) गायके लिये हितकारक होकर (अ-मित्र-हा) शत्रुका नाश करके (वि-चर्षणिः) मनुष्योंमें मुख्य बनकर (पवस्व) शुद्ध करो।

(२) **तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।** (ऋ. १।११६।३)=(अप-उदकाभिः) जलसे जो संबंध नहीं रखती (अंतरिक्ष प्रुद्भिः) अंतरिक्षमेंसे जो चलती है ऐसे (आत्मन्वतीभिः) चपल (नौभिः) नौकाओं—विमानों—से आपने (तं ऊहथुः) उसको लाया।

(३) **स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः। सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ।** (ऋ. ८।१३।२)=वह पहिले आकाशमें देवोंके स्थानमें (सं वृधः) फैला है जो (सु-पारः) पार ले जानेवाला (सु-श्रव-तमः) अत्यंत वर्णनीय और (अप्सु-जित्) कर्मोंको जीतनेवाला है।

(४) **यदाजिं यात्याजिकृदिंद्रः स्वश्वयुरुप । रथीतमो रथीनाम् ।** (ऋ. ८।४५।७)=(रथीनां रथीतमः) रथियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ रथी (सु+अश्व–युः) उत्तम अश्वोंको जोतनेवाला (आजि-कृत्) युद्ध करनेवाला शूर इंद्र (यद् आजिं उपयाति) जब युद्धमें जाता है।

(५) **यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इंद्रः।** (ऋ. २।१२।९) जो विश्वका आदर्श प्रमाण हुआ है, तथा जो

(अ-च्युत-च्युत्) न हिलनेवालोंको भी हिलाता है, हे लोगो ! वह इंद्र है ।

(६) **हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः** । (ऋ. ६।१८।५)=हे (अ–च्युत–च्युत् दस्म) न हिलनेवाले सुदृढोंको भी हिलानेवाले दर्शनीय वीर ! तू (इषयन्तं हन्) हमला करनेवालेका हनन करता है तथा (अस्य विश्वाः पुरः) इस शत्रुके सब नगरों और (दुरः वि ऋणोः) कीलेके द्वारोंको छिन्न भिन्न किया करता है ।

(७) **उतो अस्य बंधुकृदुतो नु जामिकृत्** । (अथ. ४।१९।१) अथवा (अ–बंधु–कृत्) भाईसे भिन्न किसीका बनाया (असि) है किंवा (जामि–कृत्) जाया–भार्या–का किया हुआ है।

(८) **श्रेयः–केतो वसुजित् सहीयान् त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणाऽसि** । (अथ. ५।२०।१०)=तू (श्रेयः–केतः) यशस्वी (वसु -जित्) धनको जीतनेवाला (सहीयान्) बलवान् (संग्राम-जित्) युद्धमें विजयी और (ब्रह्मणा संशितः) ज्ञानसे तेजस्वी है ।

(९) **विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजिते उर्वराजिते । अश्वजिते गोजित अब्जिते भरेंद्राय** । (ऋ. २।२१।१)= विश्वमें विजयी, धन जीतनेवाले, आत्मबल प्राप्त करनेवाले, सबके साथ युद्ध करके जय प्राप्त करनेवाले, मनुष्योंको जीतनेवाले, भूमि का विजय करनेवाले, घोडे और गौवोंको प्राप्त करनेवाले, (अप्–जिते) जलमें विजय प्राप्त करनेवाले इंद्रियकी (भर) वंधाई करो ।

(१०) स्वादुसंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तिमंतो गभीराः ॥ चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ (ऋ. ६।७५।९)
=(स्वादु–संसदः) जिनकी सभा शुभफल देनेवाली होती है, (वयः–धाः) जीवन देनेवाले, (कृच्छ्रे–श्रितः) कष्टके समय आश्रय करने योग्य, (शक्ति-मंतः) शक्तिशाली, गंभीर, (चित्रसेनाः) विचित्र सेनासे युक्त, बाणोंसे लडनेवाले, (अ–मृध्राः) जिनके ऊपर हमला नहीं हो सकता, (सतः–वीराः) सत्यके लिये वीरतासे युद्ध करनेवाले, (उरवः) विशाल और (व्रात–साहाः) शत्रुके समुदायका हमला सहन करनेवाले (पितरः) रक्षक होते हैं ।

(११) आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः । (अथ. ३।३१।८)=आयुष्मान् और आयु बढाने वालोंके जीवनके साथ जीओ मत मरजाओ ।

(१२) स एष एक एकवृदेक एव । एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । (अथ १३।४।१२)=वह एकही है, व्यापक एकही है । ये सब देव इसमें एक रूप होते हैं ।

(१३) मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु । (ऋ. ७।४९।३)=मीठा रस देनेवाला शुद्ध और जो पवित्रता करनेवाला (देवीः आपः) दिव्य जल है वह (इह) यहां मेरा रक्षण करे ।

(१४) मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु

(ऋ. ४।९७।२)=मधु जिसमें है ऐसे पवित्र घीके समान (ऋतस्य पतयः) सत्यके पालक हमको सुख दें।

(१५) **मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद्यज्ञं पुनीतन । यूयं हि ष्ठा सुदानवः** । (ऋ. १।१५।२)=हे मरुतो । ऋतुके अनुकूल पात्रसे पान कीजिये। यज्ञको पवित्र कीजये। क्यों कि आप (सु-दानवः) उत्तम दानशील हैं।

(१६) **तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति** । (अथ. १८।४।७)=(तीर्थैः) नौकाओंके साथ पुरुषार्थी बडे समुद्रमें तैरते हैं। जिससे यज्ञ करनेवाले पुण्यकर्म करनेवालेही जाते हैं।

(१७) **संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः** । (अथ. ७।१०९।६)=वसु ऐसा आपका नाम है, आप उग्र दिखाई देते हैं, राष्ट्रका भरणपोषण करते हैं और आप सबके आंख हैं।

(१८) **यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दा ेन प्रतिग्रहीता । यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्म ॥** (अथ. ४।११।६)=जो विश्वमें विजयी, विश्वका पोषक उ विश्वकर्मा है, उसका यज्ञपति (न ईशे) स्वामी नहीं है, औ न यज्ञ स्वामी है। न इसका दाता स्वामी है और न दान लेनेवाला है।

(१९) **ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवंति विश्वतः** । (अथ. ९।१०।१७)=धारक शक्तियोंसे युक्त

मनसे वे ज्ञानी और (परिभुवः) विजयी सबप्रकार (परिभवंति) विजय प्राप्त करते हैं ।

इसप्रकार ये तकारान्त शब्दोंके रूप मंत्रोंमें प्रयुक्त हुए हैं । पाठक स्थान स्थानके मंत्रोंमें इन रूपोंका ख्याल रखें और देखतेही पहचाननेका यत्न करें । यत्न करनेपर कोई कठिनता नहीं है ।

पाठ २१

क्रिमिसूक्त (अथर्व- २।३२)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ॥ ये अंतः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

अर्थ--(उद्यन् आदित्यः) उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका (हंतु) नाश करे, (निम्रोचन्) अस्तको जानेवाला सूर्य (रश्मिभिः) किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे । (ये क्रिमयः) जो कृमि (गवि अंतः) पृथिवी में हैं ।

भावार्थ--सूर्य किरणोंसे रोगके बीजरूप कृमियोंका नाश होता है । (इसलिये रहनेके स्थानोंमें विपुल सूर्यप्रकाश आनेकी व्यवस्था करना उचित है)

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगमर्जुनम् ॥ शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

अर्थ--(विश्व-रूपं) नाना प्रकारके रूपसे युक्त, (चतुर्-अक्षं) चार आंखोंसे युक्त, (सारंगं, अर्जुनं) चित्रविचित्र रंगवाले, तथा श्वेत रंगसे युक्त क्रिमि होते हैं । (अस्य पृष्टीः) इसके पसलियोंको

(शृणामि) तोडता हूं (अपि) और जो इसका (शिरः) सिर है उसकोभी (वृश्चामि) कुतरताहूं ।

भावार्थ—सब प्रकारके रोग उत्पन्न करनेवाले क्रिमियोंका पूर्ण नाश करना चाहिये । किसी प्रकार किसीको अवशिष्ट नहीं रखना चाहिये ।

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ॥
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

अर्थ—अत्रि, कण्व, जमदग्नि के समान मैं क्रिमियोंका नाश करता हूं । अगस्त्यके ज्ञानसे मैं क्रिमियोंका (सं पिनष्मि) चूर्ण करता हूं ।

भावार्थ—क्रिमिनाश करनेकी विद्या (१) अत्रि-ब्रह्म, (२) कण्व-ब्रह्म, (३) जमदग्नि-ब्रह्म (४) अगस्ति-ब्रह्म नामसे व्यक्त होती है ।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ॥
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

अर्थ—क्रिमियोंका राजा (हतः) मरगया, (उत एषां) और इनका स्थान-पालक भी मरगया । क्रिमियोंकी माता, उनकी बहिन और भाई भी मरगये ।

भावार्थ—[पूर्वोक्त विद्याओंसे रोगोत्पादक क्रमियोंका समूल नाश होता है, उनका कोईभी शेष नहीं रहता] क्रमियोंमें एक राजा, रानी आदि रहते हैं, जबतक उनका नाश नहीं होता, तबतक अन्य

क्रिमियोंका नाश होनेसे कोई लाभ नहीं होता। इसलिये उन मुख्यों-का नाश करना चाहिये।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ॥
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

अर्थ--(अस्य वेशसः) इसके परिचारक (हतासः) मरगये, इनके (परिवेशसः) सेवक मारेगये, और जो क्षुल्लक जैसे क्रृमि थे वेभी सब मरगये।

भावार्थ—[क्रृमियोंमें सेवक परिचारकभी होते हैं यह बात चूंटियों और दीमकोंमें स्पष्ट दिखाई देती है। यदि ये छोटे सेवक आदि सब न मारे जांयगे, तो फिर ये अपने राजा रानी नये ढंगसे बनाते हैं, इसलिये इनके सब कुलका नाश करना चाहिये]

प्र ते शृणामि शृंगे याभ्यां वितुदायसि ॥
भिनद्मि ते कुषुंभं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

अर्थ—तेरे (शृंगे) दोनों सींग (प्रशृणामि) तोडता हूं (याभ्यां) जिनसे तू (वितुदायसि) काटता है। तेरे (कुषुंभं) जलपात्रको (भिनद्मि) तोडताहूं (यः) जो तेरा (विषधानः) विषस्थान है।

भावार्थ—क्रृमिकी एक थैली होती है जिसमें विष होता है। यह बात ध्यानमें रखने योग्य है।

संधि—क्रिमयः+गवि=क्रिमयो गवि। शृणामि+अस्य=शृणाम्य-स्य। पृष्टीः+अपि=पृष्टीरपि। यत्+शिरः=यच्छिरः। कण्ववत्+जमदग्निः

=कण्ववज्जमदग्निः । पिनष्मि+अहं=पिनष्म्यहं । उत+एषां=उतैषां स्थपतिः+हतः=स्थपतिर्हतः ।

संधिके नियम ।

(१) ए, ऐ के सामने स्वर आनेसे अय्, आय्, ऐसे क्रमशः आदेश होते हैं । हरे + ए=हरये । ए+ए=अये ।

(२) ओ, औके सामने स्वर आनेसे अव्, आव् ऐसे आदेश क्रमशः होते हैं । विष्णो + ए=विष्णवे । ओ + ए=अवे ।

(३) जिसके पूर्व अकार है ऐसे विसर्गके सन्मुख अकार अथवा मृदु व्यंजन आनेसे विसर्गका ओकार होता है । जैसे—हतः+अस्ति =हतो अस्ति, हतोऽस्ति । हतासः+अस्य=हतासो अस्य । क्रिमयः+ हन्मि=क्रिमयो हन्मि । हतः+हत०=हतो हत० । हतः+राजा= हतो राजा ।

(४) जिसके पूर्व अकार भिन्न स्वर है, ऐसे विसर्गके सन्मुख कोई स्वर अथवा मृदु व्यंजन आनेसे विसर्गका ' र ' बन जाता है । जैसे—पृष्टीः+अपि=पृष्टीरपि । स्थपतिः+हतः=स्थपतिर्हतः । क्रिमिः+ हतः=क्रिमिर्हतः । क्रिमेः+विश्वस्य=क्रिमेर्विश्वस्य ।

इन संधिनियमोंका बडा उपयोग है । पाठक प्रत्येक संधिमें इनका उपयोग देखें । प्रतिवार इसप्रकार अनुभव देखनेसे सब नियम ध्यानमें आसकते हैं ।

कुछ और उपयोगी नियम ।

यद्यपि शब्दके अक्षर एकसे ही दिखाई देते हैं, तथापि उससे

शब्द एकही है ऐसा समझना उचित नहीं है। उदाहरणके लिये निम्न शब्द देखिये—

" असुर "

(१) **अ+सुरः**=(अ–) नहीं, (सुरः) ऐश्वर्य युक्त देव। जो देवता नहीं वह असुर कहलाता है। यह शब्द **'अ-सुर'** ऐसा लिखा जायगा।

(२) **असु+रः**=(असु) प्राणोंमें जो (रम्) रमता है। जो अपने प्राण रक्षण करनेके लिये ही सदा कार्य करता है और इससे अधिक कुछ भी नहीं करता, उसकोभी असुर कहते हैं। यह शब्द **' असु–र '** ऐसा लिखना उचित है।

(३) **असु+र**=(असु) प्राणोंको जो (रा) देता है वह प्राणदाता भी असुर कहलाता है। यह शब्दभी **' असु--र '** ऐसाही लिखा जायगा तथापि पूर्व **' असु–र '** शब्दसे यह भिन्न शब्द है, क्योंकि पहिला शब्द ' रम् ' धातुसे और यह ' रा ' धातुसे बना है।

(४) **असुरः**—(अस्यति) जो फेंकता है, अथवा जो फेंक देते हैं वह ' असुर ' होता है। वह ' असुर ' ऐसा लिखा जायगा।

इसप्रकार **'अ–सु–र'** यह एकही शब्द वास्तविक चार प्रकारका है और वह परस्पर भिन्न है। इससे पाठक ध्यानमें धरेंगे कि केवल अक्षरोंकी समानता होनेसे शब्दका एकत्व नहीं सिद्ध हो सकता। तथा और देखिये—

'अज'

(१) अ-जः=(अ) नहीं (जः) जन्म जिसका। जिसका कभी जन्म नहीं होता, उसका नाम 'अज' है। यह 'अजन्मा' वाचक 'अज' शब्द 'अ-ज' ऐसा लिखना चाहिये।

(२) अजः—(अजति) जो हलचल करता है, उसको 'अज' कहते हैं। यह 'अज' धातुसे बनता है इसलिये यह 'अज' ऐसाही लिखना चाहिये।

इसप्रकार व्युत्पत्ति और निरुक्ति जाननेसे शब्दका वास्तविक रूप ध्यानमें आसकता है। और एकही सदृश शब्दके भिन्न अर्थ क्यों हैं इसकाभी पता इस बातके ज्ञानसे हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे।

पाठ २२
उपसर्ग।

पूर्व पाठोंमें बतायाही है कि उपसर्गोंके कारण धातुओंके अर्थ कैसे बदलते हैं। उसी बातके उदाहरण इस पाठमें और दिये जाते हैं। उनको देखकर उपसर्गोंका विषय ठीक प्रकार स्मरण रखें।

"प्र" (नी—लेजाना)

प्र+नी=प्रणी=प्रणीति=सहारा देकर साथ देना।

(१)

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ॥
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥ ऋ. ६।४५।३

(१) **अस्य प्रणीतयः महीः**=इसकी सहायतायें बहुत हैं।

(२) **उत पूर्वीः प्रशस्तयः**=और सनातन प्रशंसायें हैं।

(३) **अस्य ऊतयः न क्षीयंते**=इसके संरक्षण समाप्त नहीं होते।

" **परा** "। (जि—जय प्राप्त करना)

परा+जि=पराजि=पराजित=पराभूत, जिसका पराभव हुआ है।

(२)

भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो
अप निलयन्ताम् ॥ ऋ. १०।८४।७

(१) **हृदयेषु भियं दधानाः पराजितासः शत्रवः अप-निलयन्तां**=हृदयोंमें भय धारण करनेवाले पराभूत शत्रु भाग जायें।

इसी मंत्रमें " अप+नि+लय् " धातुका रूप 'अप—नि—लयन्तां' है यहभी देखने योग्य है। भागना, छिपजाना, गुप्त स्थानमें बैठ जाना ये इसके अर्थ हैं।

" **सं** "। (**गम्**=जाना)

सं+गम्=एक होना, साथ होना, संगत होना।

(३)

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥
ऋ. १०।१९१।२

(१) **सं गच्छध्वं**=एकत्रित हो जाइये।

(२) **सं वदध्वं**=संवाद कीजिये।

(३) **वः मनांसि सं जानतां**=अपने मन सुसंस्कृत कीजिये।

(४) **यथा सं जानानाः देवाः भागं उपासते** ।=जैसे ज्ञानी देव भागकी उपासना करते हैं (वैसे आपभी कीजिये)।

" अनु " । (व्रत=नियम)

अनु+व्रत=अनुकूल आचरण करने वाला ।

(४)

अनुव्रताय रन्धयन्नप व्रतानाभूभिरिन्द्रः
श्नथयन्ननाभुवः ॥ ऋ. १।५१।९

(१) **इंन्द्रः अनुव्रताय, अपव्रतान् रंधयन्**=इंद्र अनुकूल आचरण करनेवाले के हितके लिये, प्रतिकूल आचरण करने वालेंका नाश करता है। तथा--

(२) **आभूभिः अन्+आभुवः श्नथयन्**=शक्तियोंके द्वारा शक्तिहीनोंको दूर करता है।

इसी मंत्रमें निम्न शब्द देखनेसे उपसर्गोंका प्रभाव दिखाई देगा।

अप +व्रत=विरुद्ध आचरण करने वाला।

आ+भू=शक्ति, शक्तिमान

" अव " । (नी--लेजाना)

अव+नी=अवनीत=नीचे रखा हुआ ।

(५)

ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं
स्वस्ति ॥ ऋ. १।११६।८

(५) हे अश्विनौ ! ऋबीसे अवनीतं सर्वगणं अत्रिं-स्वस्ति उन्निन्यथुः ।=हे अश्विदेवो ! संकटमें पडे हुए सब अनुयायियोंके साथ अत्रिको आपने कल्याणके लिये उन्नत किया ।

इसी मंत्रमें "उत्–नी " का रूप 'उन्निन्यथुः' देखिये । अव+नी' और 'उत्+नी' का अर्थ यहां देखिये ।

"निस्" । (कृ=करना)

निस्+कृति=निष्कृति=निराकरण, प्रतीकार ।

(६)

तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं
शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ॥ ऋ. १०।१६९।१

(तस्मै अर्चाम) उसकी पूजा करेंगे और (निष्कृतिं कृणवाम) उस पापका निराकरण करेंगे । हमारे द्विपाद और चतुष्पादके लिये स्वास्थ्य हो ।

" दुस्, दुर् "

(७)

ताविद्दुः शंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ॥
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥

ऋ ७।९४।१२

(तौ) वे दोनों आप (इत्) निश्चयसे (दुः विद्वांसं) दुष्ट भावसे युक्त विद्वान (रक्षस्विनं) राक्षसी स्वभावसे युक्त (दुःशंसं) दुष्ट बुद्धिवाले (आ-भोगं) स्वयं भोग भोगनेवाले (मर्त्यं) मनुष्यको

(हन्मना) हनन साधनसे (हतं) मारिये । (उदधिं) जलसे पूर्ण सुरई जिस प्रकार तोडी जाती है उस प्रकार उसका हनन कीजिये ।

इस मंत्रमें 'दुस् और दुर्' का प्रयोग देखिये । "**दुस्+शंसः**=" जिसकी बुराईही की जाती है । "**दुर्+विद्वांसं**"=दुष्ट विद्वान, अर्थात् ज्ञानी होकर भी जिसका बुरा स्वभाव है । "**आ+भोगं**"= जो सब प्रकारके भोग स्वयं ही भोगना चाहता है, स्वार्थी मनुष्य ।

"**वि**" । (भा=प्रकाशना)

वि+भा=विशेष तेजस्वी होना ।

(८)

आ यः स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा ॥
अंजानो अजरैरभि ॥ ऋ. २।८।४

(अ-जरैः अभि अंजानः) जीर्ण न होनेवाले तेजोंसे जो चारों ओर चमकता है और (यः चित्रः) जो विलक्षण है वह (अर्चिषा) तेजसे (आ विभाति) प्रकाशता है । (न भानुना स्वः) जैसा सूर्यसे द्युलोक चमकता है ।

"**आ+वि+भा**" धातुसे "आविभाति" रूप होता है ।

"**नि**" । (गुह्,=बंद रखना)

नि+गुह्=निगूढं=अत्यंत गुप्त ।

(९)

अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योति

रन्तः ॥ अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विंदद-मृतं निगूळ्हं ॥ ऋ. ६।४४।२३

(१) अयं उषसः सुपत्नीः अकरोत्=इसनें उषाको उत्तम पत्नी बनाया है।

(२) अयं सूर्ये अंतः ज्योतिः अदधात्=इसनें सूर्यमें तेज रखा है।

(३) त्रितेषु रोचनेषु दिवि निगूळ्हं त्रिधातु अमृतं अयं विंदत्=त्रिगुणीत प्रकाशमान द्युलोकमें अत्यंत गुप्त रखा हुआ, तीन गुणोंसे युक्त अमृत इसीनें प्राप्त किया।

इस प्रकार उपसर्गोंका महत्व संस्कृत और वैदिकभाषामें है। जिस जिस मंत्रमें जो जो उपसर्ग आया हो, उसके विषयमें यदि पाठक विचार करेंगे तो उनको उपसर्गोंका कार्य पता लग जायगा। इस समयतक पाठक बहुतसे मंत्र देख चुके हैं और उनमें कई वार उपसर्गोंके प्रयोग आचुके हैं। यदि उन प्रयोगोंको पाठक पुनः एक वार देखेंगे, तो यह उपसर्गोंका विषय उनके ठीक ठीक समझमें आ जायगा। आशा है कि पाठक इस प्रकार करेंगे और उपसर्गोंके साथ अच्छीप्रकार परिचित हो जांयगे।

पाठ २३

' आत्मन् ' शब्दके रूप।

१	आत्मा	आत्मानौ	आत्मानः
सं.	हे आत्मन्	"	"
२	आत्मानं	"	आत्मनः

३	आत्मना	आत्मभ्या	आत्मभिः
४	आत्मने	,,	आत्मभ्यः
५	आत्मनः	,,	,,
६	,,	आत्मनोः	आत्मनां
७	आत्मनि	,,	आत्मसु

इस शब्दके समान निम्न शब्दोंके पुल्लिंगी रूप होंगे।

शब्द

अपर्वन्=पर्वहीन

सत्यकर्मन्=सच्चा काम करने वाला

अबलधन्वन्=कमजोर धनुष्यवाला

ब्रह्मन्=ज्ञानी, ब्राह्मण

सत्यधर्मन्=सत्यनियमपालक

समानजन्मन्=जिसका जन्म समान है

सुशर्मन्=उत्तम नामवाला

अयज्वन्=जो यज्ञ नहीं करता

अश्मन्=पत्थर

उग्रधन्वन्=बलवान धनुष्यवाला

मातरिश्वन्=वायु

विश्वकर्मन्=विश्वकर्मा

सत्यवर्त्मन्=सत्यमार्गपर चलने वाला

सुकर्मन्=उत्तम कर्म कर्ता

पाप्मन्=पापी

मंत्र।

(१) **आशयानमहिं वज्रेण विरिणा अपर्वन्** । (ऋ. ४।१९।३)=(आशयानं) आकर बैठे हुए (अहिं) अहीन शत्रुको (अ-पर्वन्) पर्वस्थान छोडकर वज्रसे (विरिणाः) आघात किया है।

(२) **तीक्ष्णेषवो ऽबल–धन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः** । (अथ. ३।१९।७)=तीक्ष्ण बाण धारण करते हुए अशक्त धनुवाले शत्रुओंका हनन कीजिये। तथा तीक्ष्ण आयुधों और बलवान बाहुओंवाले होकर निर्बल शत्रुओंका वध कीजिये। (अपने शस्त्रास्त्र और अपना बल शत्रुकी अपेक्षा अधिक रखिये)

(३) **इत्था ही सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनं** । (ऋ. १।८०।१)=इस प्रकार ही, हे सोम ! (मदे) हर्षके लिये ज्ञानीने संवर्धन किया है।

(४) **गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः । ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे** । (ऋ. १।१०।१)=हे (शत–क्रतो) इंद्र ! (त्वा) तेरा गायन करनेवाले तेरे गुण गाते हैं और (अर्किणः) पूजा करनेवाले (अर्कं) पूज्यकी पूजा करते हैं। तथा (ब्रह्माणः) ज्ञानी तुझे (वंशं इव) बांसके समान (उत् येमिरे) ऊपर उठाते हैं। श्रेष्ठ मानते हैं।

(५) **अस्मात्समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह** (ऋ. १०।९८।१२)=इस समुद्रसे बडे द्युलोकसे हमारे लिये (इह) यहां (अपां भूमानं) पानीका बडाभाग (उप सृज) भेजो।

(६) **मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान** । (१०।१२१।९)=जो पृथिवीका जनक तथा जो सत्यधर्मा द्युलोकका (जजान) उत्पन्न कर्ता है वह हमको कष्ट न दे।

(७) **ऋतधीतय आगत सत्यधर्माणो अध्वरं।** (ऋ. ५।५१।२)=सत्यधर्म पालक (ऋत–धीतयः) सीधेपनके प्रवर्तक यज्ञमें आवें।

(८) **समान–जन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः संचराति प्रजानन्।** (अथ. ८।९।२२)=समान फल देनेवाला आपका यज्ञ शुभ है। वह आपका सब भाव जानता हुआ चलता है।

(९) **सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः।** (ऋ ६।५१।११)=वे हमारे लिये (सु–शर्माणः) उत्तम सुख देनेवाले, (सु–अवसः) उत्तम सहायक, (सु–नीथाः) उत्तम नेता, (सु–त्रात्रासः) रक्षक और (सु–गोपाः) उत्तम बचाव करनेवाले हों।

(१०) **त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं निषेदिरे। बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषं** (ऋ. ५।८।२)=हे अग्ने। (बृहत्–केतुं) बहुत ज्ञानवान् (पुरु–रूपं) अनेक रूपवाले (धन–स्पृतं) धनसे पूर्ण (सु–शर्माणं) सुख देनेवाले (सु–अवसं) उत्तम सहायक (जरत्–विषं) वृद्ध होने वाले पदार्थोंमें प्रविष्ट (अतिथिं पूर्व्यं) प्राचीन अतिथि गृहपति और (शोचिष् केशं) शुद्ध करनेवाले जिसके किरण हैं ऐसे (त्वां) तेरी (विशः) सब प्रजायें (नि–सेदिरे) उपासना करते हैं।

(११) **य आदृत्या परिपन्थीव शूरोऽयज्वनो विभजन्नेति वेदः।** (ऋ १।१०३।६)=जो शूर (परि–पंथी इव)

मार्गपर रहनेवाले चोरके समान (आदृत्य) आदर करके (अयज्वनः वेदः) कर्म न करनेवालेका धन (वि–भजन् एति) उससे पृथक् करता हुआ जाता है।

(१२) **इयत्तकः कुषुंभकस्तकं भिनद्म्यश्मना। ततो विषं प्रवावृते पराचीरनु संवतः।** (ऋ १।१९१।१६)=(इयत्तकः) इतनासा कुसुंभक है (तकं) उसका पत्थरसे (भिनद्मि) भेदन करता हूं। उससे विष दूर होता है और (पराचीः अनु संवतः) विरुद्ध दिशासे वह जाता है।

(१३) **प्रास्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा। ऋभुर्न क्रतुभि र्मातरिश्वा।** (ऋ. १०।१०५।६)=(ऋभुः न) कारीगरके समान (क्रतुभिः) पुरुषार्थोंके साथ (मातरिश्वा शूरः) माताके लिये ही रहनेवाला शूर (शवसा) बलसे जो काम (ततक्ष) करता रहा, उसकी (ऋष्व ओजाः) बलको जाननेवाला (ऋष्वेभिः) उदारताओंके साथ (प्र अस्तौत्) प्रशंसा करता रहा।

(१४) **विभ्राजं ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः। येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता।** (ऋ. १०।१७०।४)=(ज्योतिषा विभ्राजन्) तेजसे प्रकाशता हुआ (दिवः रोचनं) द्युलोककी तेजस्विता करके (स्वः अगच्छः) आत्मज्योतिके साथ जो गया है उस विश्वकर्माने सब देवोंसे युक्त सब भुवन (आभृता) किये हैं।

(१५) **वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।** (ऋ १०।८१।७)=मनके समान वेगवान् वाणीके पति विश्वकर्माकी (ऊतये) संरक्षणके लिये इस (वाजे) कर्ममें आज प्रार्थना करेंगे ।

(१६) **ऋतं वदन्नृत-द्युम्न सत्यं वदन् त्सत्य-कर्मन् ।** (ऋ ९।११३।४)=हे (ऋत-द्युम्न) सत्य प्रकाश ! तू सीधा बोलनेवाला है और हे सत्यकर्मन् । तू सत्य बोलनेवाला है ।

(१७) **ययो रथः सत्यवर्त्मर्जु-रश्मिर्मिथुया चरन्तमभि याति दूषयन् ।** (अथ ४।२९।७)=जिनका सत्यके मार्गपर चलनेवाला रथ, जिसकी (ऋजु-रश्मिः) रशनायें सीधीं हैं वह, (मिथुया) चरंतं दूषयन्) मिथ्या आचार करने वालेको दूषित करता हुआ (अभियाति) आगे बढता है ।

(१८) **सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो ऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।** (ऋ. ४।२।१७)=उत्तम कर्म करने वाले तेजस्वी (देवयंतः) देवोंकेसमान आचरण करनेवाले (देवाः) ज्ञानी (जनिम धमन्तः) अपना जन्म पवित्र करते हैं (अयः न) जैसा लोहा शुद्ध किया जाता है ।

(१९) **व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा** (अथ. ३।३१।१)=(अहं) मैं सब पापभावसे (वि) दूर होऊं (यक्ष्मेण वि) रोगोंसे दूर होऊं तथा (आयुषा सं) आयुसे युक्त हो जाऊं ।

(२०) **इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ।** (अथ. २।३५।५)=विश्वकर्माने फैले हुए इस यज्ञको उत्तम मनके साथ देव प्राप्त हों ।

(२१) **यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्मणः ।** (अथ. १२।१।१३)=जिस भूमिमें सब काम करने वाले यज्ञ फैलाते हैं और वेदिका स्वीकार करते हैं ।

(२२) **त्वमिंद्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः । विश्वकर्मा विश्वदेवो महां असि ।** (अथ. २०।६२।६)= हे इंद्र ! तू (अभि-भूः) विजयी है, तूने सूर्यको प्रकाशित किया है और तू विश्वका कर्ता और विश्वका महान देव है ।

(२३) **या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ।** (अथ. २।३५।१)=जो उनकी हीन दुष्ट बुद्धि है, उसको विश्वकर्मा हमारे लिये (सु-इष्टिं) उत्तम इच्छा करे ।

इस प्रकार उक्त मंत्रोंमें उक्त शब्दोंके रूप पाठक देखें । यहां पुल्लिंगी शब्दोंके रूप बनानेकी पूर्ण विधि पाठकोंको ज्ञात हो चुकी है। अब इसको पाठक न भूलें ।

पाठ २४

यक्ष्म सूक्त (अथर्व. २।३३)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ॥
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

अर्थ—तेरी आंखों, नासिकाओं, कानोंसे तथा (छुबुकात् अधि) ठोडीमेंसे, जिह्वा और मस्तिष्कसे (शीर्षण्यं यक्ष्मं) सीरके संबंधी रोगको (विवृहामि) उखाड देता हूं।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ॥
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते ॥ २ ॥

अर्थ—(ग्रीवाभ्यः) गलेसे (ते उष्णिहाभ्यः) तेरी गुद्दीकी नाडियेंमेंसे (कीकसाभ्यः) हंसलीकी हड्डियोंसे (अनूक्यात्) रीढ़से और तेरे (अंसाभ्यां) कंधोंसे तथा बाहुओंसे (दोषण्यं) दोषमय रोगबीजको मैं उखाड देता हूं।

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ॥
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—तेरे हृदयसे (क्लोम्नः) फेफडेसे (हलीक्ष्णात्) पित्तेसे, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखोंसे, (मतस्नाभ्यां) गुर्दोसे, (प्लीह्नः) प्लीहा [तिल्ली] से तथा (यक्नः) यकृत् [जीगर] से सब दोष निकाल देता हूं।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ॥
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या विवृहामि ते ॥ ४ ॥

अर्थ—आंतों, गुदा, और (वनिष्ठोः) मलस्थानसे, उदरसे, (कुक्षिभ्यां) दोनों कांखोंसे, (प्लाशेः) कोखमें की थैलीसे, नाभिसे सब रोगबीज दूर करता हूं।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ॥
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो विवृहामि ते ॥ ५ ॥

अर्थ—तेरे जंघाओंसे, (अष्ठीवद्भ्यां) घुटनोंसे (पार्ष्णिभ्या) एडियोंसे, पैरोंसे, (श्रोणीभ्यां) कूल्होंसे (भंससः) गुह्यस्थानसे (भसद्यं) कमरके (भामदं) गुह्यके रोगादिकोंका मैं नाश करताहूं।

अस्थिभ्यस्ते मज्जाभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ॥
यक्ष्मं पाणिभ्यामंगुलिभ्यो नखेभ्यो विवृहामि ते ॥ ६ ॥

अर्थ—अस्थियों, मज्जाओं, (स्नावभ्यः) पुठ्ठों, धमनियों, (पाणिभ्यां) हाथों, अंगुलियों और तेरे नखोंसे सब रोगबीजको दूर करता हूं।

अंगे अंगे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि ॥
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वंचं विवृहामसि ॥ ७ ॥

अर्थ—अंग अंगमें, रोमरोममें, (पर्वाणि) गांठ गांठमें (त्वचस्यं) चमडींमें तथा तेरे (विष्वंचं) सब अवयवोंमें जो रोग है (कश्यपस्य वि बर्हेण) कश्यप विद्यासे उसको दूर करता हूं।

शब्दोंके विशेष अर्थ--(१) ‘ **कश्यप** ’ का अर्थ पश्यक है। पहिला और अंतका अक्षर बदल कर यह शब्द बना है—

प-----श्य-----क
क-----श्य-----प

इस प्रकार जो शब्द बनते हैं उसको निरुक्त परिभाषामें “ **आद्यंत विपर्यय** ” कहते हैं। पहिला अक्षर अंतमें जाता है और अंतका अक्षर पहिले स्थानपर आता है। “ **पश्यक** ” का अर्थ देखनेवाला है। वही अर्थ ‘ **कश्यप** ’ का है। द्रष्टा, देखनेवाला, ज्ञाता आत्मा।

(२) **बर्हण**—शब्दका अर्थ शक्ति है, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, विज्ञानशक्ति आदि मानसिक शक्तिका भाव इस शब्दमें है। अर्थात् आत्माकी आत्मशक्तिसे अपनी प्रवल इच्छाशक्ति द्वारा रोग दूर करनेकी सूचना उक्त सूक्तमें कही है। इच्छामें जितकी दृढता होगी, उतनी सिद्धिकी सुफलता होनी है।

संधिके नियम।

(१) पदके अंतमें क्, च्, ट्, त्, प् हों और उनके सामने स्वर अथवा मृदु व्यंजभ आगया तो इनका क्रमशः ग्, ज्, ड्, द्, ब्, हो जाते हैं। छुबुकात्+अधि=छुबुकादधि। उदरात्+अधि=उदरादधि।

(२) तवर्गके सन्मुख चवर्ग आनेसे तवर्गका चवर्ग हो जाता है। मस्तिष्कात्+जिह्वा=मस्तिष्काज्जिह्वा। यत्+चंद्रः=यच्चंद्रः। यस्मात्+छुबुकात्=यस्माच्छुबुकात्। तस्मात्+जातः=तस्माज्जातः।

(३) विसर्गके सामने तकार आनेसे विसर्गका स् होता है। ग्रीवाभ्यः+ते=ग्रीवाभ्यस्ते। यक्नः+ते=यक्नस्ते। आंत्रेभ्यः+ते= आंत्रेभ्यस्ते।

(४) विसर्गके सामने चकार आनेसे विसर्गका श् होता है। गोधूमाः+च=गोधूमाश्च। मुद्गाः+च=मुद्गाश्च।

(५) विसर्गके सामने टकार आनेसे विसर्गका ष् होता है। रामः+टीका=रामष्टीका।

पाठक इन नियमोंका मंत्रोंके संधियोंमें अनुभव करें। ये नियम कंठस्थ रखनेकी आवश्यकता नहीं है। परंतु इनका आशयही केवल ध्यानमें धरना चाहिये। अब कई शब्दोंकी उत्पत्तिके विषयमें थोडासा लिखता हूं—

" रुद्र "

(१) रुद्+र=(रुद्) रोना, दुःख, कष्ट (रा) देनेवाला। जो दुःख देता है। यह शब्द ' रुद्+र ' ऐसा लिखना उचित है।

(२) रुद्+द्र=(रुद्) रोना, रोदन, दुःख, कष्ट आदिको (द्र) नष्ट करनेवाला। दुःखका दूर करनेवाला। यह शब्द ' रुद्+द्र ' ऐसा लिखना उचित है।

(३) रुत्+र=(रुत्) शब्द (रा) देनेवाला। उपदेश देनेवाला। शब्द बोलनेवाला। यह शब्द ' रुद्+र ' ऐसा लिखना चाहिये।

इस प्रकार एकही रुद्र शब्द वेदमें तीन प्रकारका है। इस लिये यह कोई न समझे कि अक्षर एक होनेपर शब्दभी एक ही होता है।

" मरुत् "

इस शब्दकी संतति विचार करने योग्य है। इसके वर्ण बदल जानेसे इससे कई शब्द बन जाते हैं। मरुत्, मर्त; मर्त्य, मर्य, मृत्, मृत्यु। इनकी बनावट निम्नप्रकार है—

म्	०	ऋ	०	०	०	=मृ (मूल धातु)
म्	अ	र्	०	०	०	=मर्
म्	अ	र्	उँ	त्	०	=मरुत्
म्	अ	र्	०	त	०	=मर्त
म्	अ	र्	०	त्	य	=मर्त्य
म्	अ	र्	०	०	य	=मर्य
म्	०	ऋ	०	त्	०	=मृत्
म्	०	ऋ	०	त्	य्उँ	=मृत्यु

'र' का 'ऋ' स्वर बनता है क्यों कि दोनोंकी एकही जाती है। तीसरे शब्दसे 'उ' गुम हो गया था वह अंतिमशब्दके अंतमें आकर रहा है। इस प्रकार पाठक विचार करेंगे तो उनको शब्दोंकी बनावट का पता लग सकता है। वेदमें कई ऐसे शब्द हैं कि जो एकही मूल शब्दसे बने हैं, परंतु वे अलग अलग शब्द समझे जाते हैं। इस प्रकार विचार करनेसे उनका मूल गोत्र ध्यानमें आ सकता है। वैदिक ज्ञानके लिये इस प्रकार शब्दविज्ञानकी बडी जरूरी है। आशा है कि पाठक इसका विचार करेंगे।

पाठ २५

निपात विचार।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात शब्दके ये चार मुख्य विभाग हैं। इनमें संपूर्ण उपसर्गोंका विज्ञान पाठकोंको हो चुका है। नामोंका क्रमशः हो रहा है। अब निपातोंके विषयमें थोडासा कहना है। —

[१] **उपमा** अर्थ में। (१) **इव**, (२) **न**, (३) **चित्**, (४) **नु** " ये चार निपात हैं; इनका अर्थ उपमा, सादृश्य आदि है। इनके उदाहरण देखिये—

" इव "=सदृश

(१)

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे

हुत एधि ॥ हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद ओजो विमानो विमृधो नुदस्व ॥ ऋ॰ १०।८४।२

हे (सहुरे मन्यो) सहनशील तेजस्वी ! (हुतः सेनानी नः एधि) बुलाया हुआ तू सेनापति होकर हमारे पास आओ। (अग्निः इव त्विषितः) अग्निकेसमान तेजस्वी होकर (सहस्व) शत्रुका पराभव कर। (शत्रून् हत्वाय वेदः वि भजस्व) शत्रुओंको हनन करके धनोंका विभाग कर। (ओजः मिमानः) शक्तिका विचार करता हुआ (मृधः) शत्रुओंको (विनुदस्व) दूर फेंकदो।

(२)

इहैवेधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः ॥ इंद्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥

ऋ. १०।१७३।२

(इह एव एधि) यहां ही आओ। (मा अपच्योष्ठाः) मत दूर होजाओ। (पर्वत इव अ–वि–चाचलिः) पहाडके समान निश्चल रहो। (इंद्र इव इह ध्रुवः तिष्ठ) इन्द्रके समान यहां स्थिर रहो। (इह राष्ट्रं उ धारय) यहां राष्ट्र निश्चयसे धारण करो।

“ **न** ”=निषेध, समान, उपमा।

इस ‘ न ’ के उक्त तीन अर्थ हैं। इसके अब उदाहरण देखिये–

(३)

नेन्द्रं देवममंसत ॥ ऋ. १०।८६।१

(इंद्रं देवं न अमंसत) इंद्र देवको नहीं मानते रहे। इसमें निषेधार्थक न है। अब उपमार्थक ‘ न ’ का उदाहरण देखिये—

(४)

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ॥
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ ऋ. ८।२।१२

(दुर्मदासः न) जैसे दुष्ट मदसे युक्त पुरुष (युध्यन्ते) लढते हैं वैसेही (सुरायां हृत्सु पीतासः) सुरा बहुत पीनेवाले लडते हैं। तथा (न) जैसे (ऊधः नग्नाः जरन्ते) गुप्तस्थानमें नंगे बडबडते हैं।

इस सुरापानकी निंदा करनेवाले मंत्रमें ' न ' शब्द उपमा अथवा सादृश्य अर्थमें है। " **हृत्सु पीतासः** " का अर्थ ' जितना दिल चाहता है उतना पीनेवाले ' ऐसा होता है। दिल खोलकर पीनेवाले आपसमें लडकर मरते हैं। इतनी भयानक सुरा है यह मंत्रका भाव है।

' **चित्**'—के अनेक अर्थ हैं। उपमा, सादृश्य, सत्कार, निंदा आदि अर्थोंमें इसका प्रयोग होता है।

(५)

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिंद्र वह्निभिः ॥
अविंद उस्रिया अनु ॥ ऋ. १।६।५॥

हे इंद्र। (वीळु चित्) दुर्गम स्थानका भी (आरुजत्नुभिः वह्निभिः) भेदन करनेवाली आग्नेय शक्तियों द्वारा (गुहा चित्) गुप्त स्थानमें भी रखीं हुई (उस्रिया) वशीभूत शक्तियां (अनु अविंद) तुमने प्राप्त कीं।

इसमें दो वार ' **चित्** ' का प्रयोग हुआ है और यह सत्कार अर्थमें है। इंद्रकी शक्तिकी प्रशंसा इससे व्यक्त हो रही है।

' नु ' यह निपात भी उपमार्थ में होता है। इसके शंका निश्चय, प्रश्न आदि भी अर्थ हैं। परंतु उपमा यह विशेष अर्थ है।

(६)

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन्प्र
ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः॥
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया
व्यूतयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः॥ ऋ. ६।२४।३

हे (पुरुहूत) प्रशंसनीय शूर इंद्र । (ते मह्ना) तेरा महत्व [रोदस्योः प्रारिरिचे] द्यु और पृथिवी लोकसे भी बाहिर फैला है, [न] जैसा [चक्र्योः बृहन् अक्षः) दोनों चक्रोंके बाहिर बडा अक्ष-[डंडी]-आता है। [नु] जिस प्रकार [वृक्षस्य शाखाः] वृक्षकीं शाखायें फैलती हैं उस प्रकार ही [ते पूर्वीः ऊतयः] तेरे सनातन संरक्षण [विरुरुहुः] विशेष बढे हुए हैं। अर्थात सर्वत्र फैले हैं।

इसमें ' न और नु ' ये उपमार्थक ही निपात हैं। इससें '**वय**' का अर्थ ' शाखा ' हैं, इस ' **शाखा** ' शब्दकी उत्पत्ति देखने योग्य है। यह प्रारंभमें '**खा–शा**' ऐसा था जिसका ' शा-खा ' ऐसा गुप्त संकेतकी रीतिसे बनाया गया है।

ख=आकाश   श=(शेते)=जो सोता है।

जो आकाशमें लेटता, फैलता अथवा सोता है वह '**खशय । खशायी** अथवा **खश** ' कहलाता है।

ख..............शायी

ख..............शा

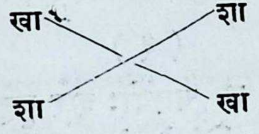

इस प्रकार ' शाखा ' शब्द बनता है। (निरु. १।२।३) ।
इस प्रकार जो शब्द बनते हैं उसको ' आद्यन्त-विपर्यय ' कहते हैं। जिनमें आदि और अंतके अक्षरोंकी अदलाबदल होती है। शाखा शब्द मंत्रमें नहीं है तथापि वह ' वयः ' का पर्याय है और उसकी विलक्षण उत्पत्ति है इस लिये यहां बतादी है।

अब और दो निपात इस पाठमें बताने हैं, ' च और आ '। ये दोनों ' समुच्चय ' अर्थमें हैं, दो पदार्थोंका संबंध बताना और संग्रह करना समुच्चयका भाव है। देखिये ' च ' का उदाहरण—

अहं च त्वं च वृत्रहन्त्संयुज्याव सनिभ्य आ ॥
अरातीवा चिदद्रिवो नु नौशूर मंसते भद्रा इंद्रस्य रातयः ॥

हे (वृत्रहन्) इंद्र। (अहं च त्वं च) मैं और तू (सनिभ्य आ) अभ्युदय प्राप्तिके लिये (सं युज्याव) मिल जावें। हे (अद्रि—वः) शस्त्र युक्त शूर। (अ—राती—वा चित्) निर्दय भी [नु नौ मंसते] निश्चयसे हमारे सख्यके विषयमें सहमत होगा निश्चयसे [इंद्रस्य भद्राः रातयः] इंद्रकी कल्याणमय सहायतायें हैं!

इस मंत्रमें ' च, आ, नु, ' इनके अर्थ देखिये । अत्र ' आ ' के विषयमें और एक मंत्र देखिये—

[८]

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः ॥
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥

ऋ. १०।१६।११

[यः कव्य–वाहनः] जो कव्यवाहन और [ऋता–वृधः] सत्य फैलानेवाला अग्नि [पितॄन् यक्षत्] पितरोंका यज्ञ करता है वह [देवेभ्यः च पितृभ्यः आ] देव और पितरोंके लिये [हव्यानि] हवनोंके विषयमें [इत् उ प्रवोचति] निश्चयसे कहता है ।

यह पितृयज्ञविषयक मंत्र है । इसमें जो अग्नि होता है उसका कव्यवाहन नाम है । देवयज्ञमें जो अग्नि होता है उसको हव्य-वाहन कहते हैं । ' **कवि** ' का ' कव्य ' और ' **हवि** ' का ' हव्य ' होता है । ' कु ' धातुसे ' कवि ' शब्द और ' हु ' धातुसे ' हवि ' शब्द बनता है ।

कु=शब्द करना, बोलना	हु=दान आदान करना
कवि	हवि
कव्य	हव्य

ये इनके मूल अर्थ हैं । इस विषयमें विस्तार पूर्वक आगे वर्णन आजायगा । यहां निपातोंका अर्थही पाठक देखें और उसीके अर्थका मनन करें ।

पाठ २६

पुल्लिंगी शब्दोंके रूप बनानेका अभ्यास पाठकोंका समाप्त हो चुका है। इसलिये अब नपुंसक लिंगी शब्दोंके रूप बनानेका विचार करना है। '**वेद–स्वयं–शिक्षक**' के प्रथम भागमें थोडेसे नपुंसक लिंगी शब्दोंके रूप बताये थे, उनके अभ्याससे पाठकोंके मनमें इनकी विशेषता आगई ही होगी, कि प्रथमा, संबोधन और द्वितीयासे भिन्न अन्य सब विभक्तियोंके नपुंसक लिंगी शब्दोंके रूप प्रायः पुल्लिंगके समानही होते हैं। इसी कारण यदि पुल्लिंगी शब्दोंके रूप बनानेका अभ्यास हुआ है, तो विना आयास नपुंसकलिंगी शब्दोंके रूप पाठक बना सकते हैं।

इसलिये यहां पाठकोंसे निवेदन है कि, यदि उनके पहिले पाठ ठीक न हुए हों, तो आगे न बढें। एकवार प्रारंभसे पुनः सब पाठोंको पढें, तत्पश्चात् आगेका अभ्यास सुगम होगा, अन्यथा संदेह बढते जांयगे। आशा है, कि पाठक इसका ख्याल रखेंगे। अब नपुंसकलिंगी शब्दोंके रूप बताये जाते हैं—

'जगत्' शब्दके रूप।

१	जगत्	जगती	जगन्ति
सं. हे	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
३	जगता	जगद्भ्यां	जगद्भिः
४	जगते	,,	जगद्भ्यः
५	जगतः	,,	,,
६	,,	जगतोः	जगताम्
७	जगति	,,	जगत्सु

ये रूप पुल्लिंगी तका-रांत शब्दके रूपोंके समानही हैं।

इस प्रकार नपुंसकलिंगी तकारांत शब्दके रूप होते हैं। अब इनके उदाहरण देखिये—

(१) **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।** (य. ४०।१)=जो कुछ जगतीमें जगत् है उसमें ईश वसने योग्य है।

(२) **ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये।** (ऋ. १।३५।१)=जगत्को (निवेशनीं) आराम देनेवाली रात्रीकी प्रशंसा करता हूं और (ऊतये) रक्षाके लिये सवितादेवकी प्रार्थना करता हूं।

(३) **यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः।** (ऋ. १।१६४।२३)=किंवा जो (जगत्) चलनेवाला (पदं) पाद जगातीमें (आहितं) रखा है (ये इत् तत् विदुः) जो उसको जानते हैं वे अमृतत्वको प्राप्त होते हैं।

(४) **जगतां पतये नमः।** (य. १६।१८)=जगत्पतिके लिये नमस्कार।

(५) **मा हिंसीः पुरुषं जगत्।** (य. १६।३)=(जगत्) हलचल करनेवालेकी और पुरुषकी हिंसा न कर।

(६) **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।** (य. ७।४२)=स्थावर जंगमका आत्मा सूर्य है।

(७) **यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो**

बभूव । (अथ. ४।२।२)=जो प्राणवालों और हिलनेवालोंका राजा महत्वके कारण हुआ है ।

(८) **धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः । स नः पूर्णेन यच्छतु ।** (अथ. ७।१७।१)=जगत् का पति धारक ईश्वर हमको शोभा देवे तथा वह हमको पूर्णतासे देवे ।

इसप्रकार जगत् शब्दके रूपोंका प्रयोग है, इसीप्रकार तकारांत नपुंसकलिंगी शब्दोंके रूप पाठक वेदमंत्रोंमें देख सकते हैं । अब नकारांत नपुंसकलिंगी शब्दके रूप देखिये ।

' नामन् ' शब्दके रूप ।

१	नाम	नामनी, नाम्नी	नामानि
सं. हे	नामन्, नाम	” ”	”
२	”	” ”	”
३	नाम्ना	नामभ्यां	नामभिः *
४	नाम्ने	”	नामभ्यः *
५	नाम्नः	”	” *
६	”	नाम्नोः	नाम्नां *
७	नाम्नि, नामनि	”	नामसु *

* ये रूप नकारांत पुल्लिंगी शब्दके रूपोंके समानही हैं ।

प्रथमा, संबोधन, तथा द्वितीयाके द्विवचनके दो दो रूप होते हैं, तथा संबोधन और सप्तमीके एक वचनकेभी दो दो रूप होते हैं । इसका पाठक ख्याल रखें । जिनके दो रूप होते हैं, उनमेंसे जो चाहे रूप भाषामें प्रयुक्त होता है । दोनों रूपोंका भाव एकही होता है । अब इसके समान रूप जिनके होते हैं ऐसे शब्द देखिये—

शब्द

धामन्=धाम, स्थान	लोमन्=केश, बाल
व्योमन्=आकाश	सामन्=साममंत्र
रोमन्=बाल, केश, रोम	कर्मन्=कर्म

अब इनका उपयोग निम्न मंत्रोंमें देखिये—

(१) **यस्य धाम श्रवसे नामेंद्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ।** (ऋ. १।५७।३)=जिसका धाम (इंद्रियं नाम ज्योतिः) इंद्रिय संज्ञक तेज (आयसे श्रवसे) गति और यशकेलिये (अकारि) किया है । (हरितो न) घोडोंके समान । [इंद्रका स्थान इंद्रिय रूप ज्योतिमें है । जैसे घोडे रथको जोते जाते हैं वैसे इंद्रिय शरीर रूपी रथको जोडे हैं]

(२) **अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे । पृथिव्याः सप्त धामभिः ।** (ऋ. १।२२।१६)=पृथिवीके सातों स्थानोंसे देव हमारा रक्षण करें जहांसे विष्णु आक्रमण करता है ।

(३) **यदस्य धामनि प्रिये समीचीनासो अस्वरन् ।** (ऋ. ८।१२।३२)=इसके प्रिय धामके अंदर आनंदसे रहनेवाले गायन करते हैं ।

(४) **विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अंतर्निहितासि नाभिः ।** (अथ. १।१३।३)=विदित है तेरा धाम जो परम गुप्त है और जो प्रकृतिके समुद्रके बीचेंमें रखा है ।

(५) **अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको विराजति ।** (य. १२।११७)=भूत भविष्यका इच्छारूप अग्नि, जो एक ही सम्राट् है प्रिय स्थानोंमें विराजता है ।

(६) **अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तं स्म जानीत परमे व्योमन् ।** (य. १८।४९) यज्ञका पति यहां (वः) आपके पास आता है, उसको परम आकाशमें (जानीत स्म) देखिये ।

(७) **सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते** । (अथ. ९।६।२) साम जिसके केश और यजु हृदय कहा जाता है ।

(८) **लोम लोम्ना संकल्पय त्वचा संकल्पय त्वचं ।** (अथ. ४।१२।५) बालके साथ बाल जोडो और त्वचाके साथ त्वचा को ठीक करो ।

(९) **अंगे अंगे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य विबर्हेण विष्वंचं वि वृहामसि ।** (अथ. २।३३।७)=प्रत्येक अंगमें, प्रत्येक केशस्थानमें, प्रत्येक पर्वमें तथा जो यक्ष्म रोग त्वचामें है उसको भी (कश्यपस्य=पश्य कस्य) द्रष्टाकी दृष्टिकी (वि-बर्हेण) विशेषशक्तिसे सब प्रकारसे-निकालता हूं ।

(१०) **सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखं स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।** (अथ. १०।७।२०)=साम जिसके लोम हैं आंगिरस अथर्वा मुख है, उसको (स्कंभं) स्थिर कहो वह (क-तमः) अत्यंत आनंदकारक है ।

(११) **ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतं। हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि** । (अथ. ११।९।५)=ऋक्, साम, यजु, (उद्गीथः) गायन (प्रस्तुतं) स्तुति (उच्छिष्टे) आत्मामें ही हैं। हिंकार, स्वर और सामका (मेडिः) आलाप आत्मामें है और वह मेरेमें है।

(१२) **इंद्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः** (ऋ. १।११।४)=इंद्र विश्वके कर्मका धारणकर्ता शस्त्रधारी और (पुरु–स्तुतः) अनेकों द्वारा प्रशंसित है।

(१३) **यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः**। (ऋ. १।१०१।४)=जो अश्व, गौवें आदिका स्वामी (वशी) इंद्रियां वशमें रखनेवाला, प्रत्येक कर्ममें स्थिर और (आरितः) प्राप्त है।

इसप्रकार नकारांत नपुंसकलिंगी नामोंके रूप पाठक बना और मंत्रमें पहचान सकते हैं।

पाठ २७

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यथ ॥ अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ अथर्व. ३।२।४

पद—वि। आकूतयः। एषां। इत। अथो। चित्तानि। मुह्यथ। अथो। यत्। अद्य। एषां। हृदि। तत्। एषां। परि। निः। जहि।

अन्वय—एषां आकूतय वि इत। अथो चित्तानि मुह्यथ। अथो अद्य एषां हृदि यत्, तत् एषां परि निः जहि॥

अर्थ—इन (शत्रुओं) के कर्तूत विरुद्ध हो जाएं। और उनके चित्त मोहित हो जाएं। और आज इनके हृदयमें जो है, उससे इनका ही नाश कर।

भावार्थ—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे शत्रुकी शक्तिसेही शत्रुका पराभव हो।

अमीषां चित्तानि प्रति मोहयन्ती गृहाणांगा-न्यप्वे परेहि ॥ अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै ग्राह्याऽमित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ अथ. ३।२।५

पद—अमीषां। चित्तानि। प्रति। मोहयन्ती। गृहाण। अंगानि। अप्वे। परा। इहि। अभि। प्र। इहि। निः। दह। हृत्सु। शोकैः। ग्राह्या। अमित्रान्। तमसा। विध्य। शत्रून।

अन्वय—हे अप्वे। परा इहि। अमीषां चित्तानि अंगानि प्रति-मोहयन्ती गृहाण। अभि प्र इहि। शौकैः हृत्सु निर्दह। ग्राह्या तमसा अमित्रान् शत्रून् विध्य।

अर्थ—हे (अप्वे) व्याधि, हे भीति ! हमारेसे दूर हो जाओ। (अमीषां) इन शत्रुओंके चित्त और अंग मोहित कर लो। शत्रु-ओंपर (अभिप्रेहि) हमला करो। शोकसे उनके हृदयोंमें आग फैला-ओ। पकडनेवाले (तमसा) अज्ञानसे दुष्ट शत्रुओंको छिन्नभिन्न करो।

भावार्थ—स्वकीय सैन्यमें निर्भयता रहे परंतु शत्रुसैन्यमें भीति उत्पन्न हो। शत्रुपर ऐसा हमला किया जावे कि वे सब मोहित हों। दुःखसे उनके हृदय जल जांये। और घबराहटसे उनका पराजय हो।

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ॥ तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ अथ. ३।२।६

पद—असौ । या । सेना । मरुतः । परेषां । अस्मान् । आ–एति । अभि । ओजसा । स्पर्धमाना । तां । विध्यत । तमसा । अप–व्रतेन । यथा । एषां । अन्यः । अन्यं । न । जानात् ॥

अन्वय—हे मरुतः । परेषां असौ या सेना ओजसा स्पर्धमाना अस्मान् अभि आ एति । तां अपव्रतेन तमसा विध्यत । यथा एषां अन्यः अन्यं न जानात् ।

अर्थ—हे (मरुतः) मरनेको तैयार सैनिको । शत्रुकी यह जो सेना बलसे स्पर्धा करती हुई हम पर (अभि एति) हमला चढाकर आती है । उसको (अप–व्रतेन) क्रियाहीन करनेवाले (तमसा) धूवेंसे ऐसा (विध्यत) मारो कि (यथा) जिससे इनमेंसे कोई किसीको न जाने ।

भावार्थ—शत्रु सैन्यपर ऐसा हमला करो कि जिससे वे घबराकर एक दूसरेको भी न पहचान सकें ।

"**मरुत्**" शब्दका अर्थ ' जो मरनेको तैयार ' है । '**तमस्**' शब्दका अर्थ ' अंधेरा, धूवां, अज्ञान, धूंधलापन ' है ।

संधि—वि+आकूतयः=व्याकूतयः । इत+अथो=इताथो । यत्+अद्य=यदद्य । गृहाण+अंगानि=गृहाणांगानि । अंगानि+अप्वे=अंगान्यप्वे । शोकैः+ग्राह्या=शोकैर्ग्राह्या । अमित्रान्+तमसा=अमित्रांस्तमसा ।

एति+अभि+ओजसा=एत्यभ्योजसा । अन्यः+अन्यं=अन्यो अन्यं ॥ आकूतयः+एषां=आकूतय एषां । तमसा+अप=तमसाप । यथा+एषां= यथैषां ।

मरुत् शब्दकी व्युत्पत्ति ।

(१) मरुत्=(मर्+उत)=(मर्) मरनेकी तैयारी करके जो युद्धमें (उत्तर) उतरते हैं । सैनिक, सिपाही, शूरवीर ।

(२) मरुत्=(मा+रुद्)=जो (मा) नहीं (रुद्) रोते हैं ॥ जो आनंदित और प्रसन्नचित्त रहते हैं । किसी प्रकारकी कठिनता प्राप्त होनेपर भी जो नहीं रोते, परंतु धैर्यसे स्वकीय कर्तव्य करते हैं ॥ आनंदित । प्रसन्न वदन ।

(३) मरुत्=(मा+रुत्)=जो नहीं बोलते । जो बडबड नहीं करते, परंतु जो मुनि रहकर, चुपचाप रहकर अपना कर्तव्य करते हैं । मुनि ।

(४) मरुत्=(मित+रुत्)=जो मित, परिमित, नियमित अर्थात् अल्प बोलते हैं वे मरुत् कहलाते हैं । थोडा बोलते और बहुत कार्य करते हैं । मितभाषी ।

(५) मरुत्=(अमित-रुत्)=अमित अर्थात बहुत बोलनेवाले ॥ वक्ता, उपदेशक ।

इसके अतिरिक्त मरुत् शब्द बाह्यसृष्टिमें वायुवाचक और शरीरमें प्राणवाचक है । यह शब्द वैदिक सारस्वतमें अत्यंत महत्व रखता है, इसलिये इसके भाव पाठकोंको स्मरणमें धरने चाहिये । अब और मंत्र देखिये—

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेक राट् त्वं विराज ॥ सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥

अथर्व. ३।४।१

अन्वय—हे राजन् । त्वा राष्ट्रं आगन् । वर्चसा सह उत् इहि । प्राङ् विशांपतिः एकराट् त्वं वि राज । सर्वाः प्रदिशः त्वा ह्वयन्तु । इह उपसद्यः नमस्यः भव ॥

अर्थ—हे राजन् । तेरेपास राष्ट्र आगया है । तेजके साथ ऊपर चढो । (प्राक्) पहिले प्रजाओंका पालक एक राजा होकर तू विराजो । सब (प्रदिशः) दिशाओंमें रहनेवाली प्रजा तेरीही इच्छा करे । यहां तू (उप—सद्यः) सबको मिलनेवाला और नमस्कारके लिये योग्य बनो ।

संधि—वर्चसा+उत्+इहि=वर्चसोदिहि । पतिः+एक=पतिरेक । सर्वाः+त्वा=सर्वास्त्वा । प्रदिशः+ह्वयन्तु=प्रदिशो ह्वयन्तु । ह्वयन्तु+उपसद्यः=ह्वयन्तूपसद्यः । उपसद्यः+नमस्यः+भव=उपसद्यो नमस्यो भव । भव+इह=भवेह ॥

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **राष्ट्र**=(राजते तत्) जो शोभता है, जो चमकता है वह राष्ट्र होता है । केवल मनुष्य रहते हैं वह राष्ट्र नहीं होता, परंतु जहां संघ शक्तिका तेज होगा वही राष्ट्र होता है । (२) **विशांपतिः**=(विशां प्रजानां पालकः) प्रजाओंका जो पालक होता है, वही राजा, प्रजापति होता है । केवल

राज्यगद्दीपर बैठने और चैन करनेवाला राजा नहीं होता, परंतु जो अपनी प्रजाका योग्य पालन करता है वही राजा कहलाता है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः ॥ वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥

अथर्व. ३।४।२

अन्वय--विशः राज्याय त्वां वृणतां। इमाः पंच देवीः प्रदिशः त्वां राज्याय वृणतां। ततः राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व। उग्रः नः वसूनि विभज।

अर्थ--प्रजायें राज्यके लिये तुझे पसंद करें। इन पांच दिव्य दिशाओंमें (रहने वाली पांच प्रकारकी प्रजा) तुझे राज्यके लिये स्वीकार करे। पश्चात् राष्ट्रके (वर्ष्मन्) शरीरके (ककुदि) उच्च स्थानमें चढो और (उग्रः) शूर होकर हमारेलिये धनोंका योग्य विभाग करो।

शब्दोंका विशेष अर्थ--(१) **वृणतां**--चुनना, पसंद करना, अनेकोंमेंसे एकका स्वीकार करना। (२) **वसूनि विभज**-वसुओंका विभाग करना। धनोंका योग्य भाग करना राजाका कार्य है। राष्ट्रमें धनकी विषमता नहीं होनी चाहिये। धनकी सम प्रमाणमें स्थिति रखनेसे शांति और धनकी विषमता होनेसे अशांति होती है। (इस विषयमें यजु. अ. ३० '**मनुष्योंकी सच्ची उन्नति**' पुस्तक देखिये)

पाठ २८

निपात-विचार

थोडेसे निपात पूर्वस्थलमें बता दिये हैं। अब इस पाठमेंभी थोडे बताने हैं। " वा " यह निपात विचारणा, समुच्चय, अथवा, किंवा, विकल्प, शक्यता, आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देखिये—

हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा ॥

ऋ. १०।११९।९

(हन्त) निश्चयसे (अहं) मैं (इमां पृथिवीं) इस पृथिवीको (इह वा इह वा) यहां अथवा यहां (निदधानि) धारण करता हूं।

इसमें ' वा ' का दो वार प्रयोग हुआ है। तथा और एक मंत्र देखिये—

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गंधर्वाः सप्तविंशतिः ॥
ते अग्रेऽश्वमयुंजंस्ते अस्मिञ्जवमादधुः ॥

यह मंत्र दुर्गाचार्य भाष्यमें है परंतु यही मंत्र वा. यजुमें निम्न प्रकार आया है—

वातो वा मनो वा गंधर्वाः सप्त विंशतिः ॥
ते अग्रेऽश्वमयुंजस्ते अस्मिन् जवमादधुः ॥

वा. यजु. ९।७

वायु (मनुः, मनः) मनु अथवा मन और सत्ताईस गंधर्व जो हैं (ते) वे (अग्रे) प्रारंभमें (त्वा अश्वं अयुंजन्) तुझ अश्वको

नियुक्त करते रहे और (अस्मिन्) इसमें (जवं आदधुः) वेगका धारण करते रहे ।

(वायु) प्राण, (मनु) मन, और सत्ताईस शक्तियां इस शरीरमें वेग, गति और भोगेच्छा रखती हैं । इस मंत्रमें ' वा ' निपातका अर्थ पाठक देख सकते हैं ।

' उ ' निपात है, यह निपात ' निश्चय, प्रश्न, स्वीकार ' आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होता है । परंतु ' **पाद पूरण** ' के लिये भी आता है । पाद पूरणका भाव यह है, कि इसका कोई अर्थ नहीं होता, परंतु छंदके अक्षर पूर्ण करने लिये ही यह मंत्रमें खडा रहता है । देखिये इसका उदाहरण—

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावद वस्थात् ॥ ऋ. ४।५१।१

(इदं त्यत् उ) यह वह (पुरु-तमं) श्रेष्ठ और (वयुना-वत्) ज्ञान देनेवाला (ज्योतिः) तेज (तमसः पुरस्तात्) अंधकारके आगे (अवस्थात्) आगया है ।

इस मंत्रमें ' उ ' निपात कोई अर्थ नहीं बताता है, परंतु यहां पादपूरणके लियेही आगया है । ' त्यत् ' और ' तत ' एकही है—

त्यत्—त् य् अ त्

तत्—त् (०) अ त्

बीचके ' य ' अक्षरका लोप होगया है । दोनोंकी इसप्रकार समता है । इसप्रकार ' **मध्य-अक्षर-लोप** ' हो कर कई शब्द

बनते हैं। ' मर्त्य, मर्य, मर्त ' ये शब्दभी उक्त प्रकारके ही हैं। पाठक इनकी तुलना करें।

' अह, ह ' इन दो निपातोंका अर्थ ' निश्चय ' है।

' हि ' के अनेकभाव हैं, परंतु उनमें ' हेतु, निश्चय, ' ये अर्थ मुख्य हैं।

' किल ' का अर्थ ' ज्ञानसे निश्चय ' है। इसीको ' न किल ' ' ननु किल ' इस प्रकार प्रयुक्त करते हैं, इससमय यह प्रश्नार्थक बनता है।

' मा ' का अर्थ निषेध है।

' खलु ' का अर्थ ' निषेध, निश्चय, ' आदि है। पाद पूरणके लिये भी इसका प्रयोग होता है।

' शश्वत् ' निपात बहुत अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ' शश्वत् एवं ' ऐसा इकट्ठा प्रयोग भी होता है। प्रश्नार्थमें इसका उपयोग होता है। इन सबके प्रयोग अनेक मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं।

' नूनं ' यह निपात शंका, प्रश्न, आदि अर्थोंमें है, तथापि पाद-पूरण के लियेभी समय समयपर आता है। इसका एक उदा-हरण देखिये—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम् ॥
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥

ऋ. १।१७०।१

(१) **नूनं न अस्ति। नो श्वः** ।=निश्चयसे आज नहीं है। और कल न होगा।

(२) यद् अद्भुतं तत् कः वेद ? =जो अद्भुत है वह कौन जानता है ?

(३) उत अन्यस्य अभिसंचरेण्यं आधीतं चित्तं विनश्यति । =आश्चर्य है कि अन्यका सर्वदा चंचल परंतु धारणा किया हुआ चित्तभी नष्ट हो जाता है ।

तात्पर्य जो भूत वर्तमान और भविष्य कालोंमें स्थिर नहीं रहता उसको कौन जानता है ? उस अद्भुतके विषयमें हमारे चंचल चित्तकी धारणा स्थिर रूपसे करनेपर भी उसका स्मरण भूल जाता है । इसप्रकारका वह अद्भुत पदार्थ है ।

इस मंत्रमें ' नूनं, उत ' इनके अर्थ देखने योग्य हैं । यही ' नूनं ' निपात निम्न मंत्रमें पादपूरणके लिये आया है वहभी मंत्र देखिये—

नूनं सा ते प्रतिवरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी ॥ शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ऋ. २।११।२१

हे इंद्र ! (सा मघोनी दक्षिणा) वह धनमय दक्षिणा (ते जरित्रे) तेरी प्रशंसा करनेवालेके लिये (वरं दुहीयत्) श्रेष्ठत्व प्रदान करे । तथा (स्तोतृभ्यः शिक्ष) स्तोताओंको शिक्षा दो । (मा अतिधक्) हमको मत् छोड । (नः भगः) हमें धन प्राप्त हो । (सु—वीराः) विदथे बृहद् वदेम) उत्तम वीर बनकर ज्ञानयज्ञमें बहुत व्याख्यान करेंगे ।

इस मंत्रमें ' नूनं ' निपात पादपूरणके लियेही है। इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है। " सीम् " यह निपात पादपूरण तथा परिग्रहण अर्थोंमें आता है। इसके उदाहरण देखिये—

प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋतं सिंधवो वरुणस्य यन्ति ॥ न श्राम्यन्ति न विमुंचन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन् ॥ ऋ. २।२८।४

(विधर्ता आदित्यः सीं प्र असृजत्) सबका धारणकर्ता सूर्य सब ओर प्रकाश फैलाता है। (वरुणस्य सिंधवः ऋतं यन्ति) वरुणके सिंधु—नद—जल ले जाते हैं। (एते न श्राम्यन्ति, न विमुंचन्ति) ये नहीं थकते, और नहीं छोडते। (न पप्तू वयः रघुया परिज्मन्) जैसे दौडनेवाले पक्षी शीघ्रतासे जाते हैं।

इस मंत्रमें ' सीं ' का अर्थ ' सब ओर ' ऐसा है। अब और एक उदाहरण देखिये—

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ॥ स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥ य. वा. स. १३।३

(पुरस्तात् प्रथमं) सबसे प्रथम (ब्रह्म जज्ञानं) ब्रह्म प्रकट हुआ। उस (वेनः) बुद्धिवान्ने (सु—रुचः सीमतः वि आवः) उत्तम तेज चारों ओर फैलाया। और (सतः असतः च योनिं) सत् और असत्के मूल कारणको तथा (अस्य वि—ष्ठाः बुध्न्याः उप—माः) इसके विशेष स्थिर आंतरिक शक्तियोंको (सः विवः) उसने व्यक्त किया।

इसमें ' सीं ' का अर्थ पाठक देख सकते हैं । कई आचार्य यहां के सीं का उपयोग पदपूरणके लिये ही है ऐसा मानते हैं । ' सीं ' की उत्पात्ति निम्न प्रकार हुई है—

सीमा—तः (सीमा तः)=मर्यादा से, चारों ओरसे
सीम—तः (सीम तः)= „ „
सीम्नः (सीम् नः)= „ „
सीम् ० (सीं ०)= „ „

इस प्रकार इस शब्दका गोत्र है । निरुक्तकी रीतिसे इस प्रकार शब्दोंका मूल रूप देखा जाता है । मूल शब्दसे कैसे वेदके संकेत शब्द बनते हैं इसका ज्ञान यहां हो सकता है । पाठक इस प्रकार विचार करते रहें । सदृश शब्दोंका मनन करनेसे बहुतसे निरुक्तके नियम स्वयं ज्ञात हो सकते हैं । यद्यपि केवल शब्दका सादृश्यही देखना पर्याप्त नहीं है तथापि इस प्राथमिक अवस्थामें इतनाही पर्याप्त है ।

पाठ २९

अब इस पाठमें उष् जिनके अंतमें है ऐसे नपुंसक लिंगी शब्दोंके रूप बताने हैं ।

' धनुष् ' शब्दके रूप ।

१	धनुः	धनुषी	धनूंषि
सं हे	„	„	„
२	„	„	„

३	धनुषा	धनुर्भ्यां	धनुर्भिः
४	धनुषे	,,	धनुर्भ्यः
५	धनुषः	,,	,,
६	,,	धनुषोः	धनुषां
७	धनुषि	,,	धनुःषु

इसी प्रकार उस् अथवा उष्कारांत पुल्लिंगी शब्दोंके रूप होंगे.

इसी प्रकार निम्न शब्दोंके रूप बनते हैं।

शब्द।

चक्षुष्=आंख	जनुष्=जन्म
आयुष्=आयु	त्रपुष्=कलई, रांगा
इंद्रधनुष्=इंद्रधनुष्य	वपुष्=शरीर
परुष्=संधि, अवयव	

ये शब्द वास्तविक सकारान्त हैं, परंतु सकारके पीछे इ किंवा उ होनेसे सकारके स्थानमें षकार होता है, इस नियमके अनुसार यहां सकारके स्थानपर ष लिखा है। ' चक्षुस्, आयुस् ' ऐसेही शब्द समझने उचित हैं। उस् अंतवाले पुल्लिंगी शब्दके रूप निम्न प्रकार होंगे.

' तपुस् ' (अग्नि) के रूप।

१	तपुः	तपुषौ	तपुषः
सं. हे	,,	,,	,,
२	तपुषं	,,	,,
३	तपुषा	तपुर्भ्यां	तपुर्भिः (इत्यादि;)

शेष रूप धनुष्के समानही होंगे। यहां पाठक दोनोंकी तुलना करें और प्रथमा संबोधन और द्वितीयाके रूपोंमें पुल्लिंग और नपुंसलिंगमें जो भेद होता है, उतना ध्यानमें रखें। अब इनके मंत्र देखिये—

(१) **तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलै धनुर्भिर्देवजूतैः।** (अथ. ५।१८।८)=(तेभिः) उन (हृत्-बलैः) हृदयोंके बलोंकेसाथ (देव-जूतैः) देवोंसे प्रेरित धनुष्योंसे (ब्रह्मा) ज्ञानी (देव-पीयून्) देवोंका विरोध करने वालोंका (विध्यति) वेध करता है। बाणोंसे उन पर हमला करता है।

(२) **तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्रांचं वसुभ्यः प्रणय प्रचेतः।** (ऋ. १०।८७।९)=हे अग्ने ! तीखे आंखसे (प्रांच) फैले हुए यज्ञका रक्षण करो। हे (प्र-चेतः) ज्ञान संपन्न ! वसुओंतक पहुंचाओ।

(३) **स एक व्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेंद्र धनुः।** (अथ. १५।१।६)=वह एक व्रात्य था, उसनें धनुष्य लिया, वही इंद्रधनुष्य है।

(४) **धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः।** (अथ. ४।१२।२)=धातानें भद्र शक्तिसे पुनः एक अवयवसे दूसरे अवयवका संबंध जोड दिया है।

(५) **यो दैव्यानि मानुषा जनूंष्यंतर्विश्वानि विद्मना जिगाति।** (ऋ. ७।४।१)=जो दिव्य और (मानुषा) मनुष्य

संबंधी (विश्वानि जनूंषि) सब जन्म (अंतः विघ्नना) आतरिक विज्ञानसे (जिगाति) प्राप्त करता है । जानता है ।

(६) **कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम्** । (ऋ. ४।७।९)=(रुशतः ते) तेजसे युक्त तेरा (एम) मार्ग (कृष्णं) कृष्ण है और (पुरः भाः) आगे तेज फैल रहा है । (चरिष्णु अर्चिः) फैलनेवाला तेज (वपुषां एकं इत्) सब शरीरोंके लिये एक जैसा है ।

७) **चित्रैरंजिभिर्वपुषे व्यंजते वक्षःसु रुक्मां अधि येतिरे शुभे** । (ऋ. १।६४।४)=चित्रविचित्र उबटनोंसे (वपुषे) शरीरके लिये (वि अंजते) विशेष उबटने करते हैं तथा (वक्षःसु) छातिसे के ऊपर (रुक्मां) जेवर सुंदरताके साथ (अधि येतिरे) धारण करते हैं ।

(८) **परि वामश्वा वपुषः पतंगा वयो वहन्त्यरुषा अभीके** । (ऋ. १।११८।९)=(अरुषा वयः) तेजस्वी पक्षियोंके समान (वपुषः पतंगाः) शरीरके वेगवान घोडे (वां) आपको (अभीके परि वहन्तु) इस ओर ले आवें ।

(९) **वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता** । (ऋ. ३।३९।४)=(तपुषः बुध्न) तपके प्रारंभमेंही ये (तमः-हनः) अंधकारका नाश करने वाले (मिथुना जाता) साथ उत्पन्न हुए हुए (वपूंषि सचेते) शरीर धारण करते हैं । [स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति यह मिथुन उत्पन्न होकर विभिन्न शरीर धारण करने लगा]

(१०) **संमाऽग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।**
(ऋ. १।२३।२४)=हे अग्ने! तेजसे प्रजासे और आयुसे मुझे संयुक्त करो। इसप्रकार ' उस् ' अन्तवाले शब्दोंके प्रयोग मंत्रोंमें हैं । अब इकारान्त नपुंसक लिंगी शब्दोंके रूप देखिये—

' दधि ' शब्दके रूप ।

१	दधि	दधिनी	दधीनि
सं. हे	"	"	"
२	"	"	"
३	दध्ना	दधिभ्यां	दधिभिः
४	दध्ने	"	दधिभ्यः
५	दध्नः	"	"
६	"	दध्नोः	दध्नां
७	दध्नि, दधनि	"	दधिषु

इस प्रकार निम्न शब्दोंके रूप होते हैं ।

शब्द

अस्थि=हड्डि	**सक्थि**=जंघा
अक्षि=आंख	

(१) **सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ।**
(अथ ४।१२।३) तेरा बिखरा हुआ मांस (सं) इकट्ठा हो और (अस्थि अपि) हड्डि भी (सं रोहतु) बढे ।

(२) **अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः । यक्ष्मं पाणिभ्यामंगुलिभ्यो नखेभ्यो विवृहामि ते ॥** (अथ. २।३३।६)

=हड्डि, मज्जा, स्नायु, धमनियां, (पाणिभ्यां) हाथ, अंगुलियां तथा नाखूनोंसे तेरा रोग दूर करता हूं।

(३) **नास्यास्थीनि भिद्यात्।** (अथ. ९।५।२३)=इसकी हड्डियां न टूटे।

(४) **यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमा भरत्। शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत्।** (अथ. ११।८। ११)=जब केश, हड्डि, स्नायु, मांस, मज्जा भर दिये, और पांववाला शरीर बनाकर किस लोकमें प्रविष्ट हुआ ?

(५) **अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते।** (अथ. २०।९६।१७)= तेरे आंख, नाक, कान, और हनुसे सिरका रोग मस्तकसे, और जिह्वासे सब रोग दूर करता हूं।

(६) **य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति। तेषां संदध्मो अक्षीणि।** (अथ. ४।५।५)=जो बैठता है, जो चलता है, और जो ठहरा हुआ देखता है उनके आंख सम्यक् रीतिसे धारण करते हैं।

इस प्रकार इन शब्दोंके रूप वेदोंमें प्रयुक्त हुए हैं। यदि पाठक इस प्रकार प्रत्येक शब्दके रूप वेद मंत्रोंमें देखनेका, उनको पहचाननेका तथा उनका अर्थ जाननेका अभ्यास करेंगे तो बडा भारी लाभ हो सकता है। यही रीति है कि जिसका अभ्यास करनेपर वेदमें सुगमताके साथ प्रवेश हो सकता है। जो अन्य मार्ग हैं बडे कष्टके हैं।

अब थोडे ही समयमें संपूर्ण नपुंसक लिंगी शब्दोंके रूप करनेकी विधि समाप्त होनी है। इस लिये यहां पाठकोंसे निवेदन है कि वे झटपट आगे बढनेका विचार न करें, परंतु पहिले पाठोंको सुदृढ करनेके पश्चात् ही आगेका अभ्यास करनेका विचार करें। समय समय पर वेदके मंत्र पढनेकी जिज्ञासा बढती है और अभ्यासका ध्यान कम होता है, इस लिये यहां यह सूचना दी है। आशा है कि इस प्रलोभनमें न फंसते हुए पाठक अपने अभ्यासमेंही दत्त चित्त होकर स्थिर लाभ प्राप्त करेंगे।"

पाठ ३०

पथ्या रेवती बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ॥ तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ अथर्व. ३।४।७

अन्वय—पथ्याः रेवतीः विरूपाः सर्वाः बहुधा संगत्य ते वरीयः अक्रन्। ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु। इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश।

अर्थ—हे राजन्! (पथ्याः) मार्गके अनुसार योग्य रीतिसे चलनेवाली (रेवतीः) शक्तिशाली (वि—रूपाः सर्वाः) विविध प्रकारके रंग रूपोंसे युक्त सब प्रजायें (बहुधा) अनेक प्रकारसे (संगत्य) इकट्ठी होकर तुझे (वरीयः) श्रेष्ठ (अक्रन्) बनाया है। वे सब प्रजायें (सं विदानाः) एक मत होकर तुझे ही पुकारें। यहां (उग्रः) शूरवीर और उत्तम मनसे युक्त होकर (दशमीं) दसवे दशक तक (वश, वस) रहो।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **पथ्य**=मार्गके अनुकूल व्यवहार करनेवाला, जो नीतिनियम, धर्मनियम तथा राजनीतिके तत्व हैं तथा मानवी उन्नतिके सिद्धांत हैं उनके अनुसार जो चलते हैं उनको ' पथ्य ' कहा जाता है। (२) **रेवती**=' रेव् ' धातुका अर्थ चलना, हलचल करना है। जो प्रजा अपनी उन्नतिकी हलचल योग्य मार्गसे करती है उसका नाम ' रेवती ' होता है। इस शब्द का दूसरा अर्थ (रे–वती, रै–वती) धनवती होता है। जिसके पास धन होता है। प्रजाके पास पांच प्रकारका धन होता है ज्ञान, शौर्य, धनधान्य, कारीगरी और सेवा शक्ति क्रमशः येह धन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादोंका है। इस पांच प्रकारके धनोंसे जो युक्त होती है, वह प्रजा ' रेवती ' कहलाती है। (३) **वि–रूपाः**= विविध प्रकारके रंगरूपोंसे युक्त। जनतामें गोरे, काले, पीले, लाल, गन्नमी आदि बहुत प्रकारके लोक होते हैं। किसी प्रकारके रंगरूपसे किसीकीभी योग्यता श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ नहीं होती। गुण, कर्म स्वभावसे ही उच्च नीचता होती है।

(४) **सर्वाः संगत्य**=शब्दोंसे सब प्रजाजनोंकी एकताका उत्तम बोध होता है। सभा, समिति, आमंत्रण परिषदोंसे प्रजाओंकी एकता होती है। ग्राम सभा, राष्ट्रसमिति और मंत्रिमंडल इन तीन सभाओंद्वारा जनताका ऐकमत्य प्रकट होता है। (५) **सं विदानाः** =यह शब्द ज्ञानियोंकी एकता बता रहा है। सब प्रजाओंकी ज्ञान पूर्वक एकता होनी चाहिये, जिससे प्रजाकी शक्ति बढ जाती है। (६) **दशमी**=दस वर्षका एक अवधि होता है। इस प्रकारके दस अवधितक जीवित रहनेकी सूचना यह शब्द दे रहा है। दशाब्दी।

संधि—पथ्याः+रेवतीः=पथ्या रेवतीः । रेवतीः+बहुधा=रेवती-र्बहुधा। सं+गत्य=सङ्गत्य । वरीयः+ते=वरीयस्ते । ताः+त्वा=तास्त्वा । संविदानाः+ह्वयन्तु=संविदाना ह्वयन्तु । वश+इह=वशेह ।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ॥ अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ अथर्व. ३।५।२

अन्वय—हे पर्णमणे ! मयि क्षत्रं, मयि रयिं धारयतात् । राष्ट्रस्य अभिवर्गे अहं निजः उत्तमः भूयासम् ॥

अर्थ—हे पूर्णश्रेष्ठ ! मेरे अदंर शौर्य और मेरे अंदर धन धारण कर। राष्ट्रके (अभि वर्गे) मंडलमें मैं निज और उत्तम बना रहूं ।

(१) **'अभिवर्ग'**—पालन करनेवाला रक्षक वर्ग,संरक्षक मंडल। (२) **निज**—राष्ट्रका अपना, राष्ट्रका हितचिंतक, जैसा निज संबंधी होता है ।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ॥ उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ अथर्व. ३।५।६

अन्वय—हे पर्ण! ये धी-वानः, मनीषिणः, रथकाराः, ये कर्माराः, सर्वान् जनान् त्वं मह्यं अभितः उपस्तीन् कृणु ।

अर्थ–हे पूर्ण! जो बुद्धिवान मननशील हैं, जो रथ करनेवाले तर्खाण और जो (कर्माराः) लुहार शिल्पी आदि हैं, उन सब जनोंको तू मेरे चारों ओर उपस्थित करो ।

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ॥
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ अथ. ३।५।७।

अर्थ—जो (राजानः) राजे, और जो (राज-कृतः) राजाओंको बनानेवाले प्रजाजन, (सूताः) सूत और जो (ग्राम—ण्यः) ग्रामके नेता हैं उन सबको मेरे पास उपस्थित करो ।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **राजानः**=यह शब्द इस मंत्रमें राजपुरुष, सरदार, मांडलिक राजे इस अर्थमें है । (२) **राजकृतः**=राजाका चुनाव करने वाले प्रजा जन । अपनेमेंसे जिसको चाहे राजगद्दीपर नियुक्त करनेका अधिकार प्रजाजनोंकोही है । अर्थात् राजा जन्मसे राजगद्दीका अधिकारी नहीं है, परंतु राष्ट्रकी सब जनताकी संमतिसेही उसको राजगद्दी प्राप्त होती है । (३) **सूत**—इतिहास, कथा आदि कहनेवाले उपदेशक । (४) **ग्राम-णिः**—ग्रामका अग्रणी, नगरका नेता, शहरका मुखिया । यह राजाका नौकर नहीं होता, परंतु ग्रामके जनों द्वारा पसंद कियाहुआ होता है ।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बंधनात् ॥
न वैबाध-प्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥
अथर्व. ३।६।७

अन्वय—ते अधरांचः प्र प्लवतां । बंधनात् छिन्ना नौः इव । वैबाध-प्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति ।

अर्थ—वे [शत्रु] निम्न गतिसे बह जांय । जैसी बंधनसे छूटी हुई नौका बह जाती है । (वै-बाध-प्र-नुत्तानां) विशेष बाधा करनेके कारण जो नीचे फेंके जाते हैं, उनका पुनः वापस होना संभव नहीं है ।

भावार्थ—जो दुष्ट होते हैं उनका अधःपात होता है और जो अवनतिमें गिरते हैं उनका पुनः श्रेष्ठ होना कठिन है ।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीव—चातनीः ॥
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुंचन्तु क्षेत्रियात् ॥

अथर्व. ३।७।५

अन्वय—आपः इत् वै उ भेषजीः । आपः अमिव-चातनीः । आपः विश्वस्य भेषजीः । ताः त्वा क्षेत्रियात् मुंचन्तु ॥

अर्थ—जल निश्चयसे औषधि है । जल रोग दूर करनेवाला है । जल सब रोगोंकी औषधी है । वह तुझे क्षेत्रिय रोगसे बचावे ।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) **अमीव**=(अम+इव)= अन्नका अपचन ' **आम, अम** ' कहलाता है । उस अपचित आमसे जो रोग होते हैं उनका नाम ' **अमीव** ' होता है । रोगोंकी उत्पत्ति ' अम ' में है, इस कारण जिसके पेटमें ' **आम** ' नहीं होगा वह नीरोग ही रहेगा । (२) **अमीव-चातन**=रोगोंको दूर करनेवाला । (३) **क्षेत्रिय**=मातापिताके दोषके कारण जो लडकेमें व्याधियां होतीं हैं, उनको क्षेत्रिय कहते हैं ।

इस मंत्रमें जलचिकित्साकी सूचना है । जलके तीन गुण इस मंत्रमें बताये हैं । (१) **अमीव-चातनीः आपः**=अपचित अन्नके,

आमके, कारण होनेवाले रोगोंकी दवा जलही है। (२) **विश्वस्य भेषजीः आपः** ।=सब रोगोंकी औषधि जल है। (३) **आपः क्षेत्रियात् मुंचन्ति**=जल आनुवंशिक रोगोंसे बचाता है।

संधि—इत्+वै=इद्वै । वै+उ=वा उ । आपः+अमीव=आपो अमीव । आपः+विश्वस्य=आपो विश्वस्य । भेषजीः+ताः+त्वा=भेषजीस्तास्त्वा ।

पाठ ३१

निपात विचार ।

'**त्वः**' यह निपात है। कई आचार्य इसको निपात कहते हैं, कई सर्वनाम समझते हैं और कई अर्धनाम मानते हैं। इसका उदाहरण देखिये—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ॥ ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ऋ. १०।७१।११

(पुपुष्वान् त्वः ऋचां पोषं आस्ते) पोषण करनेवाला एक ज्ञानी मंत्रोंका पोषण करता है। (त्वः शकरीषु गायत्रं गायति) एक शक्करी छंदमें गायन गाता है। (त्वः ब्रह्मा जात-विद्यां वदति) एक ब्रह्मा प्रसिद्ध विद्याका व्याख्यान करता है। (त्वः उ यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत) एक यज्ञका मापन करता है।

इस मंत्रमें '**त्वः**' शब्द चार वार आगया है। इस मंत्रमें 'त्वः' का अर्थ 'एक, दूसरा' इतनाही है। यज्ञमें एक ऋत्विज मंत्र

बोलता है, दूसरा सामगान करता है। तीसरा मंत्रोंकी व्याख्या करता है, और चौथा यज्ञकी रचना करता है। यह मंत्रका भाव है। इसमें 'त्वः' शब्द '**एकः**' अर्थमें आगया है। यह सर्वनाम है। इसमें '**गायत्र**' शब्द विचार करने योग्य है। (गय) प्राणोंका (त्र) रक्षण जिससे होता है उसका यह नाम है। इसकी रचना निम्न प्रकार होती है—

गय—त्राण (प्राण–त्राण)

गय—त्र ,,

गाय—त्र ,,

गाय—त्री ,,

उक्त मंत्रमें चार ऋत्विजोंके चार कार्य कहे हैं, उनकी व्यवस्था देखिये—

(१) **होता**—ऋचाओंका पाठ करता है। (ऋग्वेद)

(२) **उद्गाता**—सामगायन करता है।....(सामवेद)

(३) **ब्रह्मा**—प्रवचन करता है।........(अथर्ववेद)

(४) **अध्वर्यु**—यज्ञका कर्म करता है....(यजुर्वेद)

चार ऋत्विजोंके ये चार शब्द हैं। यद्यपि पूर्वोक्त मंत्रमें केवल एक ब्रह्माही शब्द द्वारा बताया है, तथापि मंत्रके अर्थसे अन्योंकी सूचना मिलती है। ये चार ऋत्विज चार वेदोंके सूचक हैं यहां प्रसंगतः 'ऋत्विज्' शब्दकी उत्पत्ति देखिये—

ऋतु+यज्=ऋतुके अनुकूल यज्ञ करनेवाला ।

ऋतु+इज्
ऋत्व्+इज् } =(उ+इ=वि)=ऋत्विज्, ऋत्विक्

'य और इ' समय समयपर एक दूसरेके स्थानपर आते हैं। तथा यहां 'अध्वर्यु' शब्दकीभी उत्पत्ति देखने योग्य है—

अ+ध्वरा=अध्वरः= { हिंसा रहित कर्म, कुटिलता रहित कर्म । योग्य मार्गसे किया हुआ कर्म ।

अ–ध्वर+युज्= हिंसा रहित कर्म करना

अ–ध्वर +युः = ,, ,, ,, करनेवाला

अध्वर्युः = ,, ,, ,, ,,

'ध्वरा' शब्दका अर्थ 'हिंसा, कुटिलता, तेढेपन, घातपात' है । हिंसा रहित सीधा और प्रशस्त कर्म करनेवाला जो होता है उसको अध्वर्यु कहते हैं । अस्तु । येह व्युत्पत्तियां प्रसंगतः जो शब्द आगये उनकी दीं हैं । अत्र पूर्वोक्त 'त्व' का और एक मंत्र देखिये—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ॥ उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशतीः सुवासाः ॥ ४ ॥ ऋ. १०।७१

(उत त्वः वाचं पश्यन् न ददर्श) आश्चर्य है कि एक वाणी देखता हुआ नहीं देखता है । (उत त्वः शृण्वन् एनां न शृणोति) आश्चर्य है कि एक सुनता हुआ इसको नहीं सुनता । परंतु यह विद्या (उत

उ त्वस्मै तन्वं विसस्रे) उसके लिये अपना शरीर फैलाती है, (उशतीः सुवासाः जाया पत्ये इव) इच्छा करनेवाली सुंदर वस्त्र धारण करनेवाली पत्नी पतिके लिये जैसी होती है। वैसी ज्ञानीको विद्या सुख देती है।

इस मंत्रमें अज्ञानीकी निंदा और ज्ञानीकी प्रशंसा है। अज्ञानी अनपढ मनुष्य पुस्तकें देखता है, परंतु पढ नहीं सकता। दूसरा अनपढ अशिक्षित मनुष्य व्याख्यान सुनता हुआ भी उसका तात्पर्य नहीं समझता। परंतु जो पढालिखा है, वह विद्याका रस ले सकता है। इस मंत्रसे वेदमें '**लेखन-कला**' का अस्तित्व सिद्ध होता है। देखिये—

वाचं पश्यन्।

'**वाणीका दर्शन**' होता है, ऐसा इस मंत्रमें कहा है। वाणीका दर्शन होनेके लिये शब्द लिखे जाने चाहिये। जो लोग समझते और मानते हैं कि वेदमें लेखनकलाका प्रमाण नहीं है, वे इस मंत्रका अवश्य विचार करें। वाणीका दर्शन और वाणीका श्रवण इसी मंत्रमें है—

(१) **वाचं पश्यन् न ददर्श**।=शब्दोंको देखता हुआ भी नहीं देखता।

(२) **वाचं शृण्वन् न शृणोति**।= ,, सुनता ,, सुनता।

शब्दोंका दर्शन आंखोंसे होता है और उनका श्रवण कानोंसे होता है। आंखसे शब्दोंका दर्शन होनेके लिये शब्द लिखनेकी कला

अवश्य चाहिये । अस्तु । इस मंत्रमें 'त्वः' पद प्रथमा विभक्तिका एकवचन है और 'त्वस्मै' पद चतुर्थी विभक्तिका एक वचन है । इसीका द्वितीया विभक्तिका रूप देखिये—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु ॥
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

ऋ. १०।७१।५

(उत सख्ये स्थिर–पीतं त्वं आहुः) निश्चयसे मित्रतामें निकम्मा वह है, ऐसा कहते हैं और (एनं वाजिनेषु अपि न हिन्वन्ति) उसको शौर्यके कर्मोंमें नहीं बुलाते । क्योंकि (एषः अधेन्वा मायया चरति) यह हीन कुटिलताके साथ चलता है और उसने (अफलां अपुष्पां वाचं शुश्रुवान्) फलफूल देनेवाली विद्या प्राप्त नहीं की ।

अज्ञानी अनपढ मनुष्य मित्रताके लिये योग्य नहीं होता, बुद्धिके कामोंमें उसकी सुलह कोई नहीं पूछता, क्योंकि विद्यारूपी कामधेनु उसके पास नहीं है तथा सदा फलफूल देनेवाला कल्पवृक्ष भी उसके-पास नहीं है, परंतु उसके पास (माया) कुटिलताही केवल है ।

इस मंत्रमें 'त्वं' शब्द 'त्व' का द्वितीयाका एकवचन है । अब इसीका बहुवचन का उदाहरण देखिये—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ॥
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

ऋ. १०।७१।७

सब लोग (अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः) आंखवाले और कानवाले होते हैं परंतु (स-खायः) ज्ञानी (मनोजवेषु अ-समाः बभूवुः) मनके वेगमें विशेष होते हैं। (त्वे) ये ज्ञानी (स्नात्वाः ह्रदाः इव ददृश्रे) स्नान करने योग्य तालावोंके समान दीखते हैं। परंतु (त्वे) दूसरे अनाडी (आदघ्नासः उप-कक्षासः) मुखके बराबर पानी वाले तथा बगलके इतना पानी जिनमें है ऐसे छोटे होते हैं।

सभी मनुष्योंको आंख कान नाक आदि अवयव होते हैं, परंतु इतर लोगोंकी अपेक्षा महात्माओंकी शक्ति मनके वेगमें अधिक होती है। महात्मा लोग बडे सरोवरके समान होते हैं, जिनमें स्नान करनेसे आनंद ही आनंद आता है, और गहराईका पता नहीं लगता। परंतु इतर दुर्जन छोटे जलाशयके समान होते हैं, कि वहां जानेसे स्नानका आनंद नहीं आता; परंतु शरीरपर कीचड ही लग जाता है।

इस मंत्रमें 'त्व' का बहुवचन 'त्वे' है।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	त्वः	त्वे
द्वितीया	त्वं	
चतुर्थी	त्वस्मै	

इन रूपोंको देखनेसे यह सर्वनाम है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। अन्य अव्यय होनेके समय इसका कोई रूप नहीं होता। इस मंत्रका '**आदघ्नासः**' शब्द निम्न प्रकार होता है—

आस्य—दघ्न=(मुख पर्यंत)

आस्—दघ्न ,,

आ(०)—दघ्न ,,

पाठक यहां देखें कि किस अक्षरका किस रीतिसे लोप हुआ है और यह शब्द बना है। इस प्रकार ही कई शब्द सिद्ध होते हैं जिनमें पहिले शब्दका एक ही हिस्सा शेष रहता है।

पाठ ३२

इकारांत नपुंसक लिंगी शब्दके रूप निम्न प्रकार होते हैं।

"वारि" शब्दके रूप।

१	वारि	वारिणी	वारीणि
सं. हे	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
३	वारिणा	वारिभ्यां	वारिभिः
४	वारिणे	,,	वारिभ्यः
५	वारिणः	,,	,,
६	,,	वारिणोः	वारिणां
७	वारिणि	,,	वारिषु

दधि शब्दके रूप इनसे भिन्न हैं। पाठक इसकी अवश्य तुलना करें। सर्व साधारणतया इकारांत नपुंसकलिंगी शब्दोंके रूप वारि शब्दके समानही होते हैं। परंतु अस्थि, दधि, सक्थि आदि थोडेसे शब्द ऐसे हैं, कि जिनके रूप भिन्न होते हैं; जो पूर्वस्थलमें दियेही हैं। आशा है कि पाठक इस विशेषताका स्मरण रखेंगे। निम्न शब्दोंके रूप वारि शब्दके समानही होते हैं—

शब्द।

भूरि=बहुत	महि=बडा
शुचि=शुद्ध	वारि=जल

(१) **भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः ।** (ऋ. १।१६५।७)=(युज्येभिः समानेभिः पौंस्येभिः) योग्य समान शक्तियोंके साथ, हे (वृषभ) बलवन् । (अस्मे) हमारे लिये आपने बहुत कुछ किया है ।

(२) **भूरीणि हि कृणवाम शविष्ठेंद्र क्रत्वा मरुतो यद्व-शाम ।** (ऋ. १।१६५।७)=हे बलवान इंद्र ! हम (मरुतः) मरनेके लिये तैयार होकर (यत् वशाम) जो चाहेंगे (क्रत्वा) पुरुषार्थके साथ बहुत कुछ निश्चयसे करेंगे ।

(३) **यजमानो बहुभ्य आ संगतेभ्य एष मे देवेषु वसु वार्या यक्षत ।** (यजु. २१।६१)=यजमान बैठे हुए बहुतोंके लिये (वारि आ यक्षत) जल देता है तथा (मे देवेषु वसु) मेरे ज्ञानियोंमें धन देता है ।

(४) **आ ते सिंचामि कुक्ष्योः ।** (ऋ. ८।१७।५)=तेरी बगल तक सिंचन करता हूं ।

(५) **साकं हि शुचिना शुचिः प्रशास्ता क्रतुनाऽजनि ।** (ऋ. २।५।४)=(शुचिना क्रतुना) शुद्ध यज्ञके साथ (प्र—शास्ता) शासन करनेवाला शुद्ध (अजनि) उत्पन्न हुआ है ।

(६) **ता यज्ञमा शुचिभिश्चक्रमाणा रथस्य भानुं रुरुचू रजोभिः ।** (ऋ. ६।६२।२)=वे यज्ञके प्रति (आ चक्रमाणाः) आते हुए शुद्ध (रजोभिः) धूलियोंके साथ रथके तेजको (रुरुचु) तेजस्वी करते रहे ।

(७) **प्र या महिम्ना महिनाऽऽसु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा ।** (ऋ. ६।६१।१३)=जो एक (महिम्ना) महत्वके कारण (महिना) बडेपनसे युक्त है और (आसु अन्या) इनमें दूसरी (द्युम्नेभिः) तेजोंसे युक्त (अपसां) पुरुषार्थोंके कारण (अपः–तमा) अत्यंत पुरुषार्थी है ऐसा (सुचेकिते) प्रतीत होता है ।

(८) **स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ।** (ऋ. १।१।९)=हे अग्ने! वह तू पिता जैसा पुत्रको वैसा हमको (सु+उप+आयनः) उत्तम रीतिसे प्राप्त हो और हमारे कल्याणके लिये कारण होओ ।

(९) **अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।** (ऋ. १।१८९।२)=हे अग्ने ! (नव्यः) सदा नवीन तू हमको सब (दुर्गाणि) कठिनताओंसे (स्वस्तिभिः) सब स्वस्थताओंके साथ (अति पारय) पार लेजाओ ।

उकारांत नपुंसकलिंगी शब्दके रूप अब देखिये—

‘ मधु ’ शब्दके रूप ।

१	मधु	मधुनी	मधूनि
सं	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
३	मधुना	मधुभ्यां	मधुभिः
४	मधुने	,,	मधुभ्यः

५	मधुनः	,,	,,
६	,,	मधुनोः	मधुनां
७	मधुनि	,,	मधुषु

इस प्रकार निम्न शब्दोंके नपुंसकलिंगी रूप होते हैं।

शब्द

अणु=अणु	देवयु=देवोंके साथ युक्त
बहु=बहु	धृष्णु=धर्षणशील, विजयी
वसु=निवासक	पुरु=बहुत
त्रिधातु=तीन धारक शक्तियोंसे युक्त	चारु=सुंदर
	स्वादु=मीठा

यहां यह बात ध्यानमें धरना उचित है, कि जब ये शब्द विशेषण रूपमें पुल्लिंगमें होते हैं तब पुल्लिंगी शब्दोंके समानही रूप बनायेंगे। परंतु जो शब्द नित्य नपुंसक लिंगमें रहते हैं, उनके केवल नपुंसकलिंगी शब्दोंके समानही रूप होंगे। अब इनके उदाहरण देखिये—

(१) **अंबयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृंचतीर्मधुना पयः।** (ऋ. १।२३।१६)=मीठा दूध पिलातीं हुई (अ—ध्वरीयतां जामयः) याजकोंकी स्त्रियें अर्थात् (अंबयः) मातायें (अध्वभिः यन्ति) अपने मार्गोंसेही चलती हैं।

(२) **श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन।** (ऋ. ३।१।८)=मधुर घीकीं धारायें वहां बहती हैं

(यत्र) जहां (वृषा) बलवान शूर (काव्येन) प्रशंसाके साथ बढता है।

(३) **ओतं निहितमुच्छिष्ट यज्ञस्याणूनि विद्यया।** (अथ ११।८।१०)=(उच्छिष्टे=उत्+शिष्टे) ऊपर जो अवशिष्ट है उस ईश्वरमें यज्ञके (आणूनि) सूक्ष्मभाव विद्याके साथ, तथा अन्य सब) ओतं निहितं) पूर्ण और स्थिर है।

(४)**अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः, समर्थयस्व बहु ते वसव्यं।** (ऋ. २।१३।१३)=हे वसो ! हमारे लिये दान करनेके कारण तेरा (वसव्यं बहु राधः) निवासक बहुत धन (समर्थयस्व) समर्थताके साथ दो।

(५) **तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिंधुमापो यथाऽभितो विचेतसः।** (ऋ. १।८३।१)=(यथा वि-चेतसः आपः) जिस प्रकार विशेष जलप्रवाह (सिंधुं अभितः) समुद्रको चारों ओरसे भर देते हैं, उसी प्रकार (भवीयसा वसुना) विशेष धनसे (तं इत्) उसको (पृणक्षि) तू पूर्ण करता है।

(६) **ओमानं शंयो र्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती।** (ऋ. १।३४।६)=हे शुभके स्वामी। (ममकाय सूनवे) मेरे पुत्रके लिये (शं-योः ओमानं) सुखका संरक्षक (त्रि-धातु शर्म) तीन प्रकारका आनंद (वहत) ले आइये।

(७) **अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः। देवं देवाय देवयु।** (ऋ. ९।११।२)=अथर्वा ऋत्विजोंने (देव-यु देवं पयः)

देवों के साथ युक्त होनेवाला दिव्य दूध मधुके साथ (अभि अशिश्रियुः) संयुक्त किया ।

(८) **यो धृष्णुना शवसा रोदसी उभे वृषा वृषत्वा वृषभो न्यृंजते ।** (ऋ. १।५४।२)=विजयी बलकेसाथ (उभे रोदसी) दोनों द्यु और भुलोकोंको जो (वृषा वृषभः) बलिष्ट बलवान् होनेसे (वृषत्वा) शक्तिशाली होकर (नि–ऋंजत) अधिष्ठाता बना ।

(९) **त्वष्टा दधच्छुष्ममिंद्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि ।** (य. २०।४४)=(पुरूणि) बहुत वार यशके लिये (अपाकः अचिष्टुः) विलक्षण प्रयत्न करनेवाला त्वष्टा बलवान् इंद्रके लिये (शुष्मं दधत्) बल देता रहा ।

(१०) **चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ।** (ऋ. ९।७०।१)=अन्य (चारूणि) सुंदर (चत्वारि) चार भुवन (निर्णिजे चक्रे) शोभाके लिये बनाये (यत् ऋतैः अवर्धत) जो सत्यनियमोंसे बढाये हैं ।

(११) **स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाऽभि यो धीः ।** (ऋ. १०।१२०।३)=मीठेसे मीठा जो है उसको मीठेसे (संसृज) युक्त करो । मधु मधुके साथ संयुक्त करो।

इस प्रकार नपुंसकलिंगी शब्दोंके प्रयोग वेद मंत्रोंमें हैं। पाठकोंको उचित है, कि वे स्थान स्थानके मंत्रोंमें उनको देखें और उनका अर्थ जानें ।

पाठ ३३

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतिर्नमामसि ॥
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥

अथर्व. ३।८।५

अन्वय—वः मनांसि सं नमामसि ! वः व्रता (नि) सं नमामासि । वः आकूतिः सं नमामासि । अमी ये वि–व्रताः स्थन, तान् वः सं नमयामासि ।

अर्थ—आपके मनोंको (सं) एकभावसे नम्र करते हैं। आपके नियमोंको एकभावसे नम्र करते हैं । आपके कर्तूतोंको एकभावसे नम्र करते हैं । ये जो (वि–व्रताः) विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं उन सब आपको एक विचारसे नम्र करते हैं ।

भावार्थ—सबके मन, नियम और कर्म एक विचारसे एक रूप बनने चाहिये । जो विरुद्ध आचरण करते होंगे, उनको भी उचित है, कि वे नम्रभावसे अपनी सब शक्तियोंको संघके हितके लिये एकत्रित करें । और इस प्रकार संघकी श्रेष्ठतामें अपना श्रेष्ठत्व समझें ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्ते-
भिरेत ॥ मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम
यातमनु वर्त्मान एत ॥ अथर्व. ३।८।६

अन्वय—अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि । मम चित्तं चित्तेभिः अनुएत । मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि । अनुवर्त्मानः मम यातं अनुएत ।

अर्थ—मैं अपने मनसे आपके मनोंका स्वीकार करता हूं। मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंके साथ चलीये। मेरे वशमें आपके हृदयोंको करता हूं। अनुकूलतासे मेरे मार्गका अनुसरण कीजिये।

संधि—चित्तेभिः+एत=चित्तेभिरेत। वर्त्मानः+एत=वर्त्मान एत।

(१) अपने मनके सुविचारोंके द्वारा सबके मनोंका आकर्षण करना चाहिये। (२) अपने चित्तके अनुकूल सबके चित्त बनाने चाहिये। सबके हृदयोंका इस प्रकार वशीकरण करना चाहिये। बडे जिस मार्गसे चलते हैं; उसी मार्गसे अन्योंको जाना चाहिये।

दीर्घजीवन सूक्त (अथर्व. ३।११)

मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मा-
दुत राजयक्ष्मात्॥ ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या
इंद्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्॥ १॥

अन्वय—हविषा कं जीवनाय अज्ञात–यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुंचामि। यदि एतत् ग्राहिः एनं जग्राह, तस्याः एनं इंद्राग्नी प्रमुमुक्तम्।

अर्थ—हवनसे जीवनके लिये अज्ञात रोगसे तथा क्षयरोगसे तुझे छुडवाता हूं। यदि यह (ग्राहिः) बीमारी इसको पकड रही है, तो उससे इसको इंद्र और अग्नि रोगमुक्त करें।

(१) **ग्राहिः**=जकडनेवाली पीडा, जो रोग देरतक दूर नहीं होता वह रोग। (२) **अज्ञात यक्ष्म**=जिस रोगके निदानका ठीक पता नहीं लगता। (३) **राजयक्ष्म**=क्षयरोग, तपेदिक, राज यक्ष्मा।

यदि क्षितायु र्यदि वा परेतो यदि मृत्योरंतिकं नीत एव ॥ तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शत शारदाय ॥ २ ॥

अन्वय—यदि क्षित–आयुः, यदि वा परा–इतः, यदि मृत्योः अंतिकं नीत एव, तं निर्ऋतेः उपस्थात् आ हरामि। एनं शत शारदाय अस्पार्षम् ॥

अर्थ—यदि इसकी आयु क्षीण होगई हो, यदि (परा इतः) प्राण चले जानेवाले हों, यदि मृत्युके पास पहुंचा हुआ हो, उसको (निर्ऋतेः) विनाशके पाससे लाता हूं। इसको सौ वर्षके जीवनके लिये बल देता हूं।

(१) **क्षित–आयुः**—जिसकी आयु समाप्त होचुकी है। (२) **निर्ऋतिः** (निः–ऋतिः)–ऋतसे अर्थात् सत्यसे दूर जाना, विनाशकी अवस्था।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ इन्द्रो यथैनं शरदो न यात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

अन्वय—सहस्र–अक्षेण शत–वीर्येण शत–आयुषा हविषा एनं आहार्षम्। यथा इन्द्रः एनं विश्वस्य दुरितस्य पारं शरदः अति नयति।

अर्थ—सहस्र दृष्टियोंसे युक्त, सैंकडों वीर्योंसे युक्त, शतवर्षका आयुष्य देनेवाले हवनसे इसको वापस लाता हूं। जिससे इन्द्र इसको सब (दुरितस्य) पापके परे करके, सौ वर्षकी आयुतक ले जावे।

हवनमें जो औषधियां डालीं जातीं हैं, उनका वर्णन इस मंत्रमें है विशेष औषधियोंके हवनसे विशेष रोग दूर होकर आराम होता है।

संधि—शत+आयु=शतायु। यथा+एनं=यथैनं। नयाति+अति=नयात्यति। क्षित+आयु+यदि=क्षितायुर्यदि। मृत्योः+अंतिकं=मृत्योरंतिकं। निर्ऋतेः+उपस्थात्=निर्ऋतेरुपस्थात्॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्॥ शतं त इंद्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥ ४॥

अन्वय—वर्धमानः शतं शरदः, शतं हेमंतान्, शतं उ वसन्तान् जीव। इंद्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं। शतायुषा हविषा एनं आहार्षम्॥

अर्थ—बढता हुआ सौ शरदृतु, सौ हेमंत ऋतु, ओर सौ वसंत ऋतु तक जीवो। इंद्रादि देव तुझे सौ वर्ष आयु देवें। सौ वर्षकी आयु देनेवाले हवनसे इसको मैंने वापस लाया है।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्॥ व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम्॥ ५॥

अन्वय—हे प्राणापानौ! अनड्वाहौ व्रजं इव प्र विशतं। अन्ये मृत्यवः वि यन्तु, यान् इतरान् शतं आहुः।

अर्थ—हे प्राण और अपान! बैल गोशालामें जिसप्रकार जाते हैं, उसप्रकार इसमें प्रविष्ट हो जावो। अन्य मृत्यु दूर हों, जिन इतरोंको सौ प्रकारके (मृत्यु) कहा जाता है।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ॥
शरीरमस्यांगानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

अन्वय--हे प्राणापानौ ! इह एव स्तं ! युवं इतः मा अपगातं । अस्य शरीरं अंगानि पुनः जरसे वहतं ॥

अर्थ--हे प्राण और अपान ! यहांही रहो ! यहांसे दूर न जाओ । इसके शरीर और अंगोंको पुनः वृद्धावस्थातक लेजाओ ।

जरायै त्वा परिददामि जरायै नि ध्रुवामि त्वा ॥
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहु रितराञ्छतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(जरायै) वृद्धताके लिये तुमको अर्पण करता हूं । वृद्धावस्थाके लिये तुमको पहुंचाता हूं । वृद्धावस्था तुझे (भद्राणि) अनेक सुख (नेष्ट) देवे ! अन्य मृत्यु, जो सेंकडों हैं, दूर भाग जावें ।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ॥
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ॥
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुंचद्बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अन्वय—गां उक्षणं रज्ज्वा इव जरिमा त्वा अभि अहित मृत्युः जायमानं त्वा सु—पाशया अभि अधत्त, ते तं सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उत् अमुंचत् ॥

अर्थ—जैसी गौको बैलके साथ (रज्ज्वा) रस्सीसे बांधते हैं, वैसी (जरिमा) वृद्धावस्था तेरे साथ बंधी रहे । जो मृत्यु तुझे

उत्पन्न होनेके साथही उत्तम पाशोंसे बांधता रहा, उस तेरे मृत्युको सत्यके हाथोंसे बृहस्पतिने छुडवा दिया है ।

संधि--यः+त्वा=यस्त्वा। मृत्युः+अभि=मृत्युरभि। अभि+अधत्त= अभ्यधत्त । अमुंचत्+बृह०=अमुंचद्बृह० ।

पाठ ३४

निपात विचार।

' कं, ईं, इत्, उ ' ये चार निपात हैं। ये प्रायः पद पूरण रूपमेंही वेदमें आते हैं। इनका वहां कोई अर्थ नहीं होता, जहां ये पदपूरणके लियेही केवल आते हैं। देखिये उदाहरण—

मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ॥ ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥ ऋ. १०।१६१।१

(त्वा हविषा जीवनाय कं मुंचामि) तुझे हवनसे जीवनके लिये छोडता हूं अर्थात् रोगसे मुक्त करता हूं । अज्ञात रोगसे तथा राज-यक्ष्मासे दूर करता हूं। (यदि वा एतद् ग्राहिः एनं जग्राह) यदि यह रोग इसको पकडता है (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उससे इन्द्र और अग्नि इसको छुडवा दे ।

इस मंत्रमें ' कं ' शब्द केवल पदपूरणार्थ आगया है। अब ' ईं ' निपातका उदाहरण देखिये—

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिंद्राय मंदिने ॥ चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ ऋ. १।९।२

(विश्वानि चक्रये) सब विश्व बनानेवाले (मंदिने इंद्राय) हर्ष युक्त इंद्रके लिये (चक्रिं मंदिं एनं सुते ईं आ सृजत) उत्साह वर्धक आनंदकारक इस सोमको यज्ञमें अर्पण कीजिये ।

'एमेनं'=आ+ईं+एनं । इसमें 'ईं' शब्द पदपूरक है इस लिये इसका कोई अर्थ नहीं है । अब 'इत्' का उदाहरण देखिये-

तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ॥ य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ ऋ. ८।६१।१४

(संशिश्वरीः वत्सं इव) बालककी इच्छा करनेवाली स्त्रियां जिस प्रकार बालककी प्रशंसा करतीं हैं, उस प्रकार (नः गिरः तं इत् वर्धयन्तु) हमारी वाणी उसका वर्णन करे (यः इंद्रस्य हृदं सनिः) जो इंद्रके हृदयका भक्त है ।

'**शिश्वरी**' का अर्थ 'पुत्र होनेकी इच्छा करनेवाली स्त्री' ।

'**सं-शिश्वरी**' का भी वही भाव है । जिस स्त्रीके मनमें पुत्र प्राप्त होनेकी इच्छा प्रबल हो, उसको पुत्र न होनेसे उक्त इच्छा अधिक प्रबल हो जाती है । इस प्रकारकीं स्त्रियां जिस प्रकार छोटे बालककी प्रशंसा करनेमें तन्मय हो जातीं हैं, उसीप्रकार हम सबको उस एक इंद्रकी प्रशंसा करना चाहिये ।

इस मंत्रमें (तमिद्=तं इत्) 'इत्' शब्द केवल पदपूरणके लिये है । अब चतुर्थ निपात् 'उ' कार का उदाहरण देखिये—

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ॥ वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ऋ. १।३०।४

(क्पोतः गर्भ-धिं इव) कबूतर अपने अंडे रखनेके स्थानपर जैसा वारंवार आता है, वैसा तू (समतसि) प्राप्त होता है, क्योंकि (अयं उ ते) यह तेरा ही है, (तत् वचः चित् न ओहसे) क्या उस भाषणका भी विचार नहीं करता है ?

अयमु=अयं+उ । इसमें ' उ ' केवल पाद पूरणके लिये ही है । इस प्रकार यह निपातोंका अर्थ और उपयोग है । किस स्थानपर निपात पद पूरणार्थ है, और किस मंत्रमें अर्थमय है, इसका विचार बडा सूक्ष्म है । आरंभमें ही इस बातका निश्चय पाठक स्वयंही नहीं कर सकेंगे । परंतु विशेष अभ्यासके पश्चात् इसका ज्ञान पाठक स्वयं प्राप्त कर सकते हैं । इस लिये पाठकोंको यहां उचित है, कि वे इस सूक्ष्म बातका निश्चय करनेका इस समय यत्न न करें । परंतु सब प्रयत्न अधिकसे अधिक मंत्रोंका अर्थ जानने और यथासंभव अधिकसे अधिक मंत्र कंठ करनेके लिये ही होना चाहिये । जैसा जैसा मंत्रोंका विचार होता जायगा, वैसा वैसा इन बातोंका निश्चय करनेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है ।

यहां निपातोंका विचार समाप्त हुआ । निपातोंके विषयमें जितना कहना आवश्यक था उतना इन पाठोंमें कहा गया है । नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये शब्दके मुख्य चार भाग हैं । उनमेंसे उपसर्ग और निपातोंका संपूर्ण विचार इन पाठोंमें किया गया है । पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग नामोंका विचार क्रमशः चल रहा है । यह नामोंका विचार ' **वेद-स्वयं शिक्षक** ' के तृतीय भागमें समाप्त होगा

और तत्पश्चात् ' आख्यात ' का विचार प्रारंभ होगा। अब और कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, जिनमें पूर्वोक्त निपातोंका प्रयोग पाठक विशेष ध्यानसे देख सकते हैं।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ॥ स इद्दे-
वेषु गच्छति ॥ ऋ. १।१।४

हे अग्ने ! तू (यं अ–ध्वरं यज्ञं) जिस हिंसारहित यज्ञको (विश्वतः परि–भूः असि) सब प्रकारसे करनेवाला है (सः इत्) वह यज्ञ (देवेषु गच्छति) देवोंमें पहुंचता है।

इसमें ' इत् ' पद है। यह पद यहां निश्चयार्थक है। तथा—

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ॥ तवेत्त-
त्सत्यमंगिरः ॥ ऋ. १।१।६

हे (अं–गिरः अंग अग्ने) अंगोंमें रमनेवाले प्रिय अग्ने ! (यत् त्वं दाशुषे भद्रं करिष्यसि) जो तू दाताका कल्याण करता है वह (तव इत् सत्यं) तेराही सत्य धर्म है।

इस मंत्रमें ' इत् ' पद है। तवेत् =तव+इत्। ' इव ' का उपयोग निम्न मंत्रमें देखिये—

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ॥ जुहूमसि
द्यवि द्यवि ॥ ऋ. १।४।१

(गो–दुहे सुदुघा इव) गायका दोहन करनेके समय जिस प्रकार उत्तम दोहन होनेवाली गौको पास बुलाते हैं, उसीप्रकार (ऊतये) हमारा रक्षण करनेके लिये (सु-रूप-कृत्नुं) उत्तम रूप बनानेवाले ईश्वरको (द्यवि द्यवि जुहूमसि) प्रति दिन बुलाते हैं।

इस मंत्रमें ' इव ' का उपयोग देखिये । सादृश्य अर्थमें यहां ' इव ' पद है । कई मंत्रोंमें यह ' इव ' पद पदपूरणके लियेभी आता है । परंतु ऐसे उदाहरण अत्यंत अल्प हैं । इसलिये यहां नहीं दिये हैं । प्रायः ' इव ' विशेष अर्थके साथही प्रयुक्त होता है । अब ' **उत, चित्, और इत्** ' का उपयोग निम्न मत्रमें देखिये—

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ॥
दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ ऋ. १।४।५

जो (निदः) निंदक हैं वे (अन्यतः चित्) दूसरे मार्गसे (निः आरत) दूर चले जावें । जो (नः) हमारे आस्तिक लोग हैं, वे (इंद्रे) प्रभुके विषयमें (दुवः इत् दधानाः) भक्ति धारण करते हुए (उत ब्रुवन्तु) वक्तृत्व करें ।

इस मंत्रमें ' उत, चित्, इत् ' ये निपात हैं । ' उत और इत् ' का उपयोग निम्न मंत्रमें देखिये—

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ॥
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ऋ. १।४।६

हे (दस्म) दमनकर्ता ! हम सब (इंद्रस्य शर्मणि इत् स्याम) प्रभुके आनंदमें ही रहेंगे, क्योंकि उससे (कृष्टयः) सब लोग (उत) तथा हमारे (अरिः) शत्रु भी (नः सु-भगान् वोचेयुः) हमको उत्तम ऐश्वर्य संपन्नही कहेंगे । अर्थात् समझेंगे ।

इस मंत्रमें ' उत, इत् ' ये पद हैं । यदि पाठक इस प्रकार प्रत्येक मंत्रमें देखेंगे, तो उनको संपूर्ण निपातोंका ज्ञान, महत्व और उपयोग विदित हो सकता है । आशा है, कि पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे इस बातका विचार करेंगे । सार्थ निपात वाक्योंमें पूर्ण स्वतंत्रतासे रहते हैं और सब वाक्य पर विशेष बल देते हैं अथवा वाक्यके किसी विशेष भाव पर बल देते हैं । यही इनकी विशेषता है ।

पाठ ३५

इस पाठमें सकारांत नपुंसकलिंगी शब्दोंके रूप बताने हैं । इस लिये ' **पयस्** ' शब्दके रूप नीचे देता हूं—

' पयस् ' शब्दके रूप ।

१	पयः	पयसी	पयांसि
सं. हे	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
३	पयसा	पयोभ्यां	पयोभिः
४	पयसे	,,	पयोभ्यः
५	पयसः	,,	,,
६	,,	पयसोः	पयसां
७	पयसि	,,	पयःसु

सकारांतपुल्लिंगी शब्दके समानही ये रूप हैं । देखिये 'चंद्रमस्' शब्द

इसी प्रकार निम्न शब्दोंके रूप होते हैं । पाठक इन शब्दोंमेंसे २, ४ शब्दोंके रूप बनाकर पूर्वोक्त रूपोंके साथ तुलना करके देखें और इनके रूप बनानेका अभ्यास दृढ करें ।

शब्द

अंहस्=पाप
अंभस्=पानी
पयस्=दूध, जल
अंधस्=अन्न
अयस्=लोहा
अनस्=गड्डा, गाडी, रथ
चेतस्=चित्त
तपस्=तप
छंदस्=छंद
रजस्=धूली, रजोगुण
राधस्=सिद्धि
रेतस्=वीर्य, जल
शिरस्=सिर
श्रेयस्=कल्याण
ओकस्=गृह, घर, स्थान
वासस्=कपडा, वस्त्र
एनस्=पाप
ओजस्=बल
तेजस्=तेज प्रकाश
नभस्=आकाश
नमस्=नमन, अन्न, शस्त्र,
पाथस्=उदक, वायु
मनस्=मन
महस्=महत्व
यशस्=यश
वचस्=भाषण
वयस्=आयु वय, तारुण्य, पक्षी
वर्चस्=तेज
शवस्=बल
सहस्=सहन शक्ति
वक्षस्=छाती
श्रवस्=कान, कीर्ति, धन

(१) परि वो विश्वतो दध ऊर्जा घृतेन पयसा । ये देवा के च यज्ञियास्ते रय्या सं सृजन्तु नः ॥ (ऋ. १०।१९।७)=(वः) आपके (विश्व-तः) सब ओर (ऊर्जा) बल-वर्धक अन्न घी और दूध (परि दधे) रखता हूं । जो यज्ञके लिये

योग्य देव हैं वे (नः) हमको (रय्या) शोभाके साथ (सं सृजन्तु उत्पन्न करें ।

(२) वीहि स्वस्ति सुक्षितिं दिवो नॄन् द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम, ता तरेम, तवावसा तरेम । (ऋ. ६।२।११)= (दिवः स्वस्तिं) द्युलोकसे कल्याण और (सु-क्षितिं) उत्तम रहनेका साधन (वीहि) ले आओ । जिससे (नॄन् द्विषः अंहांसि) मनुष्योंके शत्रुओंके दुष्टकृत्योंसे और (दुरिता) पापोंसे (तरेम) तैरकर परे हो जांयगे, (ताः तरेम) उनसे तैरकर परे हो जांयगे, (तव अवसा तरेम) तेरी शक्तिसे तैरेंगे ।

(३) स इदस्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम् ॥ (ऋ. ६।३।५)=(सः इत्) वह (अस्ता इव) शस्त्र फेंकनेवालेके समान तेज (प्रति धात्) धारण करता है और (असिष्यन्) शस्त्र फेंकनेके समय (शिशीत) उसको तीक्ष्ण करता है (न अयसः धारां) जैसा लोहेके शस्त्रकी धारा तीक्ष्ण की जाती है ।

(४) तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः । (ऋ. ५।३०।६)=(एते मरुतः) ये मरुत् (सु-सेवाः) उत्तम सेवा करते हुए (तुभ्य इत् अर्कं अर्चन्ति) पूजनीय तेरी पूजा करते हैं और (अंधः सुन्वंति) अन्न देते हैं ।

(५) सोदंचं सिंधुमरिणान्महित्वा वज्रेणान उषसः सं पिपेष । (ऋ. २।१५।६)=(स उदंचन्) उसने ऊपर आते हुए

(महित्वा) महत्वके साथ (सिंधुं अरिणात्) नदियोंको चला दिया, वज्रसे (उषसः अनः) उषाका रथ (संपिपेष) चूर्ण किया।

(६) नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे। (ऋ. १०।१०।३) तेरा मन मेरे मनके साथ (निधायि) मिला ओ।

(७) ईळितो अग्ने मनसा नो अर्हन् देवान् यक्षि मानुषात् पूर्वो अद्य। (ऋ. २।३।३)=हे अग्ने! तू (मानुषात् पूर्वः) मनुष्योंसे प्राचीन है, तेरी मनसे (ईळितः) पूजा होनेपर आज ही (नः अर्हन्) हमको योग्य करता हुआ (देवान् यक्षि) देवोंका यज्ञ करो।

(८) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। (ऋ. ५।५९।६)=उनमें (अ-ज्येष्ठाः) कोई श्रेष्ठ नहीं, कोई कनिष्ठ नहीं, और कोई (अ-मध्यमासः) बीचका भी नहीं है। वे (उत्-भिदः) उन्नतिके लिये भेदन करनेवाले महत्वके साथ बढते हैं।

(९) न यस्य वर्ता जनुषा न्वस्ति न राधसः आमरीता मघस्य। (ऋ. ४।२०।७)=(जनुषा) स्वभावसे (यस्य वर्ता) जिस ईश्वरका निवारक (नु न अस्ति) कोई नहीं है तथा जिसके (राधसः मघस्य) सिद्धि देनेवाले धनका (आमरीता) विनाशक भी कोई नहीं है।

(१०) शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि। (ऋ. १।१६३।६)=(सु-गेभिः) जानेके लिये सुगम

(अ-रेणुभिः) जिनपर धूलि नहीं है ऐसे (पथिभिः) मार्गोंसे (जेहमानं पतत्रि) ऊपर जानेवाला (शिरः अपश्यं) सिर देखा है।

(११) **त्वं दस्यूँरोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय।** (ऋ. ७।५।६)=हे अग्ने! तू (दस्यून्) चोरोंको (ओकसः आजः) स्थानसे दूर करता है और (आर्याय) श्रेष्ठके लिये (उरु ज्योतिः) बडा तेज (जनयन्) देता है।

(१२) **युवोर्हि यंत्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायं सेन्या भवतं मनीषिभिः।** (ऋ. १।३४।१)=(युवोः हि यंत्रं) आपका संबंध ऐसा है कि जैसा (हिम्या वाससः इव) रात्रीका दिनके साथ होता है। इस लिये ज्ञानियोंसे (अभि-आयं-सेन्या) प्राप्त होने योग्य (भवतं) हूजिये।

(१३) **आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च। वासो-वायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।** (ऋ. १०।२६।६)=(आधीषमाणायाः शुचायाः) इच्छा करनेवाली शुद्ध स्त्रीका तथा (शुचस्य) शुद्ध पुरुषका (पतिः) पालक (अवीनां वासोवायः) बकरियोंकी वूनके कपडे बुननेवाला (वासांसि आ मर्मृजत्) कपडे शुद्ध करता है।

(१४) **त्वं ह्यसि रयिपती रयीणां त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता।** (ऋ. २।९।४)=तू धनोंका धनपति है। तूं शुद्ध वचनोंका मनन करनेवाला है।

(१५) **दधिर्यो धायि स ते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः।** (ऋ. १०।४६।१)=(यः दधिः) जो धारण कर्ता है

वह (धायि) तेरा धारण करे तथा (ते वयांसि) तेरी आयुका (यन्ता) नियामक है और (तनू–पाः) शरीररक्षक (वसूनि विधते) निवासक शक्तियोंका धारण करता है।

(१६) **पुनः पत्नीरग्निरददादायुषा सह वर्चसा ॥ दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ।** (ऋ. १०।८५।३९)= अग्निने आयु और तेजके साथ पत्नी पुनः दी है। इसका पति दीर्घायु है जो सौ वर्ष जीवित रहता है।

(१७) **त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे ।** (ऋ. १।३१।७)=हे अग्ने ! तू उत्तम अमरपनमें उस (मर्तं) मर्त्य मनुष्यको (दिवे दिवे) प्रतिदिन (श्रवसे) यशके लिये धारण करता है।

(१८) **सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।** (ऋ. १।११।२)=हे इंद्र ! हे (शवसः पते) बलके स्वामिन् ! तेरी (सख्ये) मित्रतामें (वाजिनः) बलवान होकर हम (मा भेम) डरते नहीं।

इस प्रकार उक्त शब्द मंत्रोंमें प्रयुक्त हुए हैं। अन्य शब्दोंका इसी प्रकार उपयोग हुआ है। पाठक जिन मंत्रोंमें उक्त शब्दोंका उपयोग देखेंगे वहां उनकी वचन और विभक्तिका अवश्य विचार करें।

पाठ ३६

शाला सूक्त (अथर्व. ३।१२)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ॥ तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥

अन्वय—इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि । घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति । हे शाले ! सर्व्वीराः सुवीराः अरिष्टवीराः तां त्वा उप संचरेम ।

अर्थ—यहां ही सुदृढ घर निर्माण करता हूं । घीका सिंचन करनेवाला वह घर हमको (क्षेमे) सुखमें रखे । हे शाले ! सब प्रकारके हम वीर उत्तम शूर और (अरिष्ट-वीराः) कष्टोंको दूर करनेवाले बनकर तेरे पास घूमते रहें ।

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ॥ उर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

अन्वय—हे शाले ! इह एव ध्रुवा तिष्ठ । अश्वा-वती, गो-मती, सूनृता-वती, उर्जस्-वती, घृत-वती, पयस्-वती, महते सौभगाय उत् श्रयस्व ।

अर्थ—हे घर ! यहां ही स्थिर रहो । घोडोंसे युक्त, गौवोंसे युक्त, (सूनृता) उत्तम भाषणसे युक्त, (ऊर्जः) अन्नसे युक्त, घीसे युक्त, (पयः) दूधसे युक्त होकर, बडे सौभाग्यके लिये उच्च हो जाओ ।

भावार्थ—घर दृढ मजबूद और ठहराऊ होना चाहिये । उसमें उत्तम शूर वीर होने चाहिये, तथा गाय घोडे आदि उत्तम पशु होने चाहिये । तथा अन्न, घी, दूध आदि पदार्थोंके साथ वह घर उत्तम

भाषणोंका स्थान होना चाहिये। अर्थात् कभी किसीके मुखसे कोई अपशब्द नहीं निकलना चाहिये।

धरुण्यसि शाले बृहच्छंदाः पूतिधान्या ॥ आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पंद-मानाः ॥ ३ ॥

अन्वय—हे शाले! धरुणी, बृहत्-छंदाः, पूति-धान्या असि। त्वा वत्सः आ गमेत्। त्वां कुमारः आगमेत्। धेनवः स्पंदमानाः सायं त्वा आगमेत्।

अर्थ—हे घर! तू धारण करनेवाला है तथा बडी छतवाला और शुद्ध पवित्र धान्यसे युक्त है। तेरेपास बछडा आवे, तेरे पास बालक आजावे और गौवें नाचतीं हुई शामको तेरेपास आजांये।

(१) बृहत् छंदा—" छंदः " शब्दका अर्थ 'आच्छादन, वस्त्र प्रावर्ण, छत, कपडे लत्ते, वेद,' है। जहां उक्त पदार्थ बहुत हैं उसका नाम बृहच्छंदा है। (२) पूति-धान्या—" पूत " का अर्थ पवित्र शुद्ध निर्दोष है। घरमें खराब धान्य नहीं रखना चाहिये। (३) घरमें गौवोंके बछडे, छोटे बालक बहुत हों और गायें उत्तम प्रकारकीं हृष्ट पुष्ट हों।

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ॥ उक्षन्तूद्गा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं कृणोतु ॥ ४ ॥

अर्थ--इस शालाको सविता, वायु, इंद्र और (प्रजानन्) ज्ञानी बृहस्पति निर्माण करें। मरुत् (उद्ना) उदकसे तथा घीसे (उक्षन्तु) भरपूर करें। राजा भग (नः) हमारी कृषि निःशेष करे।

सबकी सहायतासे हमारी कृषि उत्तम हो, जल, घी आदि भरपूर हो और सब भोग इसी घरमें हमें मिलें। घरमें विपुल वायु आ जावे, विपुल सूर्यप्रकाश आवे और उससे सबका आरोग्य उत्तम रहे।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमि-
तास्यग्रे ॥ तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं
सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अन्वय--हे मानस्य पत्नि ! शरणा स्योना देवी देवेभिः अग्रे निमिता असि। तृणं वसाना सुमना त्वं असः। अथ अस्मभ्यं सह-वीरं रयिं दाः।

अर्थ--हे (मानस्य) संमानकी पालक शाले ! तूं (शरणा) आश्रय करने योग्य, (स्योना) सुखदायक होनेके कारण देवी है। प्रारंभमें देवों द्वारा निर्माण की गई है। (तृणं) घाससे (वसाना) बनने परभी उत्तम मनसे युक्त है। अब हमको वीरोंसे युक्त धन दो।

(१) **मानः**--संमान, नाप, लंबाई चौडाईका ठीक हिसाब। इसके योग्य प्रमाणसे सुव्यवस्थित। (२) **तृणं वसाना**=घासकी बनी हुई होनेपरभी उत्तम मनसे युक्त। घाससे जो घर बनता है वह गरीब की झौंपडी होती है। उस गरीबीमें भी उच्च श्रेष्ठ मनवाले

सात्विक पुरुष रह सकते हैं। " सीधासाधा रहना सहना और उच्च विचार करनेकी कल्पना " इसमें है। (३) सह-वीरं रयिं=वीरोंके साथ धन प्राप्त करना चाहिये।

ऋतेन स्थूणामधिरोह वंशोग्रो विराजन्नप वृंक्ष्व शत्रून् ॥ मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

अन्वय—हे वंश ! ऋतेन स्थूणां अधिरोह, उग्रो विराजन् शत्रून् अपवृंक्ष्व। हे शाले ! ते गृहाणां उप सत्तारः मा रिषन्। सर्व-वीराः शतं शरदः जीवेम।

अर्थ—हे वंश ! तूं सत्यके साथ (स्थूणां) स्तंभपर चढो। पश्चात् उग्र होकर विराजता हुआ शत्रुओंको दूर करो। हे शाले ! तेरे घरोंमें रहनेवाले नष्ट न हों। हम सब वीर सौ शरदृतुतक जीवित रहें। ['वंश' शब्द बांस और कुटुंब, घराना आदिका भी द्योतक है]

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ॥ एमां परिस्रुतः कुंभ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

अन्वय—इमां तरुणः कुमारः आ। जगता सह वत्सः आ। इमां परिस्रुतः कुंभः आ। दध्नः कलशैः आ अगुः।

अर्थ—इसमें तरुण बालक आवें। हलचल करनेवालेके साथ बछडे आवें। इसमें (परि स्रुतः) रसोंसे भरे हुए घडे आजांये। तथा दहीके भरे हुए कलश आजांये।

संधि—आ + इमां=एमां । कुमारः + तरुणः=कुमारस्तरुणः । तरुणः+आ=तरुण आ । वत्सः+जगता=वत्सो जगता । कलशैः+अगुः=कलशैरगुः । इह+एव=इहैव । अरिष्टवीराः+उप=अरिष्टवीरा उप । शाले+अश्वा=शालेऽश्वा । ऊर्जस्+वती=ऊर्जस्वती । पयस्वती+-उत्+श्रयस्व=पयस्वत्युच्छ्रयस्व । धरुणी+असि=धरुण्यसि । बृहत्+छंदाः=बृहच्छंदाः । वत्सः+गमेत्=वत्सोगमेत् । गमेत्+आ=गमेदा । वायुः+इंद्रः=वायुरिंद्रः । उक्षन्तु+उद्ना=उक्षन्तूद्ना । मरुतः+घृतेन=मरुतो घृतेन ॥

पूर्णं नारि प्रभर कुंभमेतं घृतस्य धारामसृतेन संभृताम् ॥ इमां पातॄनमृतेना समंग्धीष्टापूर्तमाभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे नारि ! एतं पूर्णं कुंभं घृतस्य धारां अमृतेन संभृतां प्रभर । इमां पातॄन् अमृतेन सं अंग्धि । एनां इष्टापूर्तं अभि रक्षाति ।

अर्थ—हे स्त्री ! इस परिपूर्ण घडेसे अमृतसे पूर्ण घीकी धाराको घरतक लेजाओ । इसमें पान कर्ताओंको अमृतसे परिपूर्ण करो । इसका इष्ट और पूर्ण रक्षण करें । ['**अमृत**'—का अर्थ मीठाई, मधुरता, मध, शहद, जल आदि है । '**इष्ट**' का अर्थ अभीष्ट इच्छा, कामना है और '**पूर्त**' का अर्थ परिपूर्णता है । इष्ट और पूर्त ये यज्ञ हैं]

इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः ॥
गृहानुप प्रसीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अन्वय--इमाः यक्ष्म-नाशिनीः अयक्ष्माः आपः प्रभरामि । अमृतेन अग्निना सह गृहान् उप प्रसीदामि ।

अर्थ--यह रोगबीज का नाश करनेवाला निर्दोष जल मैं भरती हूं । अग्निके साथ अमृतसे मैं गृहोंको प्रसन्न रखती हूं ।

संधि--अंघि+इष्ट=अंघीष्ट । इष्ट+आपूर्त= इष्टापूर्त । रक्षाति+एनां=रक्षत्येनां । भरामि+अयक्ष्माः=भराम्ययक्ष्माः । प्रसीदामि+अमृतेन=प्रसीदाम्यमृतेन । सह+अग्निना=सहाग्निना ।

पाठ ३७

शब्दोंकी उत्पत्ति ।

शब्दोंकी उत्पत्तिके विषयमें जिस शास्त्रमें विचार किया होता है, और सदृश शब्दोंका निरीक्षण करके मूल शब्दका निश्चय जिस शास्त्रमें किया होता है, उस शास्त्रका नाम '**निरुक्त शास्त्र**' है । वेदकी पढाई होनेके लिये निरुक्त शास्त्रका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है । इस शास्त्रमें किस प्रकार शब्दोंकी उत्पत्ति, बनावट और उत्क्रांतिका विचार किया जाता है, उसका थोडासा स्वरूप पूर्व पाठोंमें बताया है और यहां इस पाठमें भी थोडासा बताना है । उदाहरणके लिये '**निघंटु**' शब्द लीजिये । इसकी उत्पत्ति '**नि-गम्**' धातुसे होती है, देखिये—

नि-गम्=ज्ञान प्राप्त करना ।
नि-गन्तु= ,, देनेवाला ।
नि-घण्टु= ,, ,,
निघंटु= ,, ,,

'**ग**' के स्थानपर '**घ**' और '**तु**' के स्थानपर '**दु**' हो गया है। पाठक पूछेंगे कि यह भेद किस कारण होता है? इसका उत्तर निश्चयात्मक रीतिसे देना अशक्य है। परंतु विचार करनेपर प्रतीत होता है, कि इसके अनेक कारण हैं। जलवायु, देशकी स्थिति, पूर्व संस्कृति, मुखकी बनावट, जनसंबंध, इत्यादि कारणसे एकही शब्दका उच्चारण भिन्न लोग भिन्न प्रकार करते हैं। मनुष्य सुगमता चाहते हैं, इसलिये शब्दोंका उच्चारण सुगम बनानेका यत्न करते जाते हैं। प्रांत प्रांतकी भाषा भिन्न भिन्न होनेका यही कारण है। ये सब कारण शब्दोंकी बनावट होनेमें कारणीभूत होते हैं। परंतु '**परोक्ष प्रियता**' भी और एक हेतु है। विद्या गुप्त रखनेके लिये सांकेतिक रीतिसे शब्दोंकी रचना करनेका नाम '**परोक्ष-प्रियता**' है। कई लोग इस '**परोक्षप्रियता**' को समझते नहीं, विशेषकर युरोपीयन विद्वान तथा उनके मतानुसार चलनेवाले हमारे देशी विद्वान '**परोक्ष प्रियता**' की हंसी उडाते हैं। परंतु यह परोक्षप्रियता ही वेदमें मुख्य बात है। वेदमें कई शब्द इस संकेत रीतिसेही बने हुए हैं। इसी कारण वेदकी विद्या गुप्त और गुह्य रही है, और वैदिक परंपरा के विना इस समयमें भी उसका ज्ञान होना मुष्किल हो गया है। वेदका अर्थ करने के समय इस परोक्षप्रियतासे बने हुए शब्दोंका विशेष मनन करने की आवश्यकता है।

संस्कृतभाषामें जो शब्द हैं, वेही प्रायः वेदमें प्रयुक्त हुए हैं। व्याकरणके थोडेसे नियम भिन्न हैं, परंतु वह भेद कोई विशेष

दुर्बोध नहीं है। यदि संस्कृतभाषाके शब्दोंके प्रसिद्ध अर्थही वेदमें होते, तो वेदका अर्थ जानना कोई कठिन न होता । संस्कृत भाषाके शब्दोंके प्रसिद्ध अर्थभी वेदमें कहीं कहीं हैं, परंतु सर्वत्र वेही अर्थ हैं, ऐसी बात नहीं है। बहुत स्थानोंपर संकेत की रीतिसे विशेष कार्यके लिये बनाये हुए शब्दही प्रयुक्त हुए हैं । जबतक यह बात नहीं जानी जायगी, तबतक वेदका वास्तविक अर्थ गुप्त ही रहेगा । उदाहरणके लिये संस्कृत भाषाके '**आग्नि, इंद्र**, आदि शब्द भिन्न हैं, और वैदिकभाषाके भिन्न हैं। संस्कृतभाषाके शब्द सामान्य अर्थ बताते हैं, परंतु वैदिक भाषाके शब्द विशेष अर्थ बताते हैं। यह मूल भेद हरएक पाठकको सबसे प्रथम ध्यानमें धरना चाहिये। संस्कृत भाषाका '**अग्नि**' शब्द '**अग्**' धातुसे '**नि**' प्रत्यय होकर बनाहै--

अग् = गति करना
अग्+नि = ,, करनेवाला
अग्निः = ,, ,, (गतिमय), आग

यह इसका प्रसिद्ध अर्थ है। यह अर्थ भी वेदमें है, परंतु परोक्ष प्रियतासेभी यह '**अग्नि**' शब्द वेदमें प्रयुक्त हुआ है देखिये--

अग्र--णि=मुखिया, नेता, अग्रेसर

अग्--णि= ,, ,, ,,

अग्--नि } ,, ,, ,,
अग्निः } ,, ,, ,,

वैदिक ' **अग्नि** ' पदमें यह विशेष अर्थ है । यह ' **अग्नि** ' शब्द विशेष रीतिसे बुद्धि पूर्वक बनाया हुआ है, यह साधारण शब्द नहीं है । विशेष हेतुसे, विशेष कारणके लिये, विशेष अर्थकी निष्पत्ति साधनेके लिये, इसकी उत्पत्ति हुई है । इस लिये यह शब्द ' परोक्ष प्रियता ' का उदाहरण है । यही हेतु है कि जिस कारण वेदमें ' **अग्नि** ' का अर्थ ' मुखिया, नेता, अग्रेसर, अग्रभागमें ले जानेवाला, चालक ' आदि अनेक प्रकार होता है; तथा—

पुरि—वसति=नगरिमें रहता है ।

पुरि—वस्

पुरि—उष्

पुर्—उष=पुरुष

यह पुरुष शब्दकी उत्पत्ति है । ' **पुरुष** ' शब्दका सामान्य अर्थ मनुष्य है, परंतु विशेष अर्थ उक्त प्रकार है । यह अर्थ लेनेके पश्चात् उक्त अर्थको तीन स्थानोंमें देखा जाता है । उक्त पुरुषका अर्थ ही तीन स्थानोंमें देखिये—

(१) **आध्यात्मिक**=(व्यक्तिमें)=शरीर रूपी पुरिमें रहता है इस लिये इस देहमें जीवात्मा ही पुरुष है । व्यक्ति ।

(२) **आधिभौतिक**=(प्राणिसमूहमें) नगरोंमें रहता है इसलिये इस प्राणि समूहमें मनुष्य (स्त्री पुरुष) ही पुरुष है । नागरिक । राष्ट्रदेही ।

(३) **आधि दैविक**=(जगत् में)=सप्त तत्वोंसे परिपूर्ण इस जगत् रूपी पुरीमें रहता है इस लिये यहां परमात्माही पुरुष है ।

इस प्रकार छोटे आधारमें छोटी और बडेमें बडी पुरुषकी कल्पना है। वेदमें एकही '**पुरुष**' शब्दके इस प्रकार प्रकरणानुसार कई अर्थ हैं। यह वेदकी ही विशेषता है। यदि इस विशेषताकी ओर ध्यान नहीं दिया, तो वेदका अर्थ ही समझमें नहीं आवेगा। इस लिये पाठकोंसे प्रार्थना है, कि वेदके विशेष शब्दोंके विशेष अर्थोंका मनन पाठक अवश्य करें और उन शब्दोंकी जो विशेषता है उसको जाननेका यत्न करें। इस पुस्तकके पाठोंमें इस विशेषताका स्थान स्थानपर प्रकाश किया ही है और आगेके विभागोंमें इसी बातका अधिक विवरण होना है। इस लिये यदि पाठक इस मूल भूत बातको ध्यानमें नहीं रखेंगे, तो आगे विवरण किये हुए तत्वको जान नहीं सकेंगे। अब शब्दोंके कई और उदाहरण देखिये—

आचारं—ग्राहयति=आचारोंका ग्रहण करानेवाला।
आचार—०—य०= ,, ,, ,,
आचार्य— = ,, ,, ,,

यह शब्द निम्न प्रकारभी बनाया जाता है—

आचिनोति अर्थान् } इति आचार्यः
,, बुद्धीन् }

जो बुद्धिको चेतना देता है, अर्थोंकी व्याख्या करता है वह आचार्य होता है।

यद्यपि संस्कृतके संपूर्ण शब्द कोई न कोई विशेष भाव अवश्यमेव धारण करते हैं, तथापि उससेभी अधिक सत्व और

विशेष भाव वेदके शब्दोंमें हैं । यहां कई पूछेंगे कि ऐसा होनेका कारण क्या है ? उत्तरमें निवेदन है कि, देवताओंका पूर्ण तत्व बतानेके लिये इस प्रकार की योजना की गई है । जब पाठक वेदमंत्रोंका अधिक विचार करेंगे तब उक्त प्रकारका अनुभव उनको स्वयं हो सकेगा ।

इस समय ब्राह्मण ग्रंथोंमें शब्दोंके जो अर्थ दिये हैं उनको देखनेसे पाठक उक्त भाव स्वयं जान सकते हैं । इस पुस्तक में कई स्थानोंमें जो विशेष शब्दोंके विशेष भाव बताये हैं, वे सब ब्राह्मण ग्रथोंसेही मुख्यतः लिये हैं ।

पाठ ३८

नकारांत नपुंसकलिंगी ' वर्मन् ' शब्दके रूप ।

[illegible]		वर्म	वर्मणी	वर्माणि
सं	हे	,,	,,	,,
२		,,	,,	,,
३		वर्मणा	वर्मभ्यां	वर्मभिः
४		वर्मणेः	,,	वर्मभ्यः
५		वर्मणः	,,	,,
६		,,	वर्मणोः	वर्मणां
७		वर्मणि	,,	वर्मसु

इस प्रकार निम्न शब्दोंके रूप होते हैं—

शब्द

कर्मन्=कर्म	देववर्मन्=देवोंका कवच.
चर्मन्=चमडा	धर्मन्=धर्म
ब्रह्मन्=ज्ञान, मंत्र	प्रतिवर्त्मन्=उलटा मार्ग
वर्त्मन्=मार्ग	वर्ष्मन्=शरीर, सिर, उच्चता
पर्वन्=संधि	शर्मन्=नाम, सुख, आनंद

(१) **इंद्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ।** (ऋ. १।११।४)=इंद्र सब कर्मका धारक वज्रधारी और बहुतोंद्वारा प्रशंसित है ।

(२) **इंद्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतं । साकमेकेन कर्मणा ।** (ऋ. ३।१२।६)=(दास-पत्नीः नवतिं पुरः) शत्रुओंद्वारा सुरक्षित नव्वे कीले (एकेन कर्मणा साकं) एक कर्मके साथ इंद्र और अग्निने (अधूनुतं) नष्ट कर दिये ।

(३) **शतं वेणूञ्छतं शुनः शतं चर्माणि म्लातानि ।** (ऋ. ८ । ५५ । ३)=सौ बांस, सो कुत्ते, सौ (म्लातानि) उत्तम कमाये हुए (चर्माणि) चमडे ।

(४) **यावदीशे ब्रह्मणा वंदमान इमां धियं शतसेयाय देवीं ।** (ऋ. ३ । १८ । ३)=(यावत् ईशे) जबतक सामर्थ्य है तबतक (शत-सेयाय) सेंकडों शक्तियोंके लिये इस (देवीं धियं) दिव्य बुद्धि को (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (वंदमानः) वंदन करता हुआ रहूंगा ।

(५) प्रशस्तिकृद्ब्रम्हणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे। (ऋ. १ । ११३ । १९)=(नः ब्रम्हणे) हमारे ज्ञानके लिये (प्रशस्ति–कृत्) प्रशंसा करती हुई (वि उच्छ) उठो और हे (विश्व–वारे) सबके द्वारा वरने योग्य ! हमको (जने) लोगोंमें (जनय) मुख्य बनाओ।

(६) गोमातरो यच्छुभयन्ते अंजिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे वि रुक्मतः। बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतं ॥ (ऋ. १।८९।३)=(गो–मातरः) गायको अथवा भूमिको माता माननेवाले (अंजिभिः) उबटनोंसे (शुभयन्ते) शोभते हैं। वे (तनूषु) अपने शरीर पर (शुभ्राः) स्वच्छ (रुक्मतः) चमकदार जेवर (विदधिरे) धारण करते हैं। (विश्वं अभिमातिनं) सब शत्रुओंको (अप बाधन्ते) दूर करते हैं। (येषां वर्त्मानि) जिनके मार्गोंपर (घृतं) तेज अथवा घी (अनु रीयते) [illegible]ता है।

[illegible]७) भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयं। जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥(ऋ. १।९४।४)=(इध्मं भराम) समिधा लायेंगे, (हवींषि कृणवाम) हवन सामग्री इकठ्ठा करेंगे। प्रत्येक (पर्वाणि) संधिमें हम तेरा (चितयन्तः) चिंतन करेंगे। (जीवातवे) जीवनके लियें (धियः) सद्बुद्धियोंका अवश्य साधन करेंगे। हे अग्ने ! तेरी मित्रतामें हम कभी नष्ट न होंगे।

(८) त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम्। त्वामिंद्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि। (अथ. १९।३०।३)=हे

दर्भ। (त्वां देव-वर्म आहुः) तुमको देवोंका कवच कहते हैं, तुमको ज्ञानका पति कहते हैं। इंद्रका कवच तू है ऐसा कहते हैं। तू राष्ट्रोंका रक्षण करता है। (इस मंत्रमें दर्भके लक्षण कहे हैं, दर्भ शब्दका धात्वर्थ " विदारण करनेवाला " है)

(९) **त्वं विश्वस्माद्भुवनात्पासि धर्मणाऽसुर्यात्पासि धर्मणा।** (ऋ. १।१३४।५)=तूं सब भुवनोंसे धर्मके साथ (पासि) संरक्षण करता है। तूं (असुर्यात्) प्राणके बलसे धर्मके साथ संरक्षण करता है।

(१०) **इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः।** (ऋ. ३।६०।६)=देवोंके व्रत और मनुष्योंके धर्मोंसे (इमानि स्वसराणि) ये दिन (तुभ्यं) तेरे साथ (येमिरे) संबंधित हुए हैं।

(१[illegible]) **ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि।** (ऋ. १०।१२५।७)=पश्चात् सब भुवनोंके (अनु वितिष्ठे) व्यापक होती हूं और (अमूं द्यां) इस द्युलोकको (वर्ष्मणा) शरीरसे स्पर्श करती हूं।

(१२) **अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।** (ऋ. ६।४७।४)=यह वह है कि जिसने पृथिवीका (वरिमाणं) विस्तार और द्युलोकका (वर्ष्माणं) ऊंचापन किया है। यही वह है।

(१३) **नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं**

वसते स्वस्तये । (ऋ. १०।६३।४)=(नृ–चक्षसः) जिनकी सब मनुष्य प्रशंसा कर रहे हैं, (अ–निमिषन्त) जो आलसी सुस्त नहीं हैं वे (अर्हणा) अपनी योग्यतासे (देवासः) देव बनकर बडे अमरपन को प्राप्त हुए । वे तेजस्वी रथोंसे युक्त (अ–हि–माया) जिनकी कुशलता हीन नहीं है ऐसे वे (अन्–आगसः) निष्पापी (स्वस्तये) कल्याणके लिये (दिवः वर्ष्माणं) द्युलोककी उच्चतापर वसते हैं ।

(१४) **यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वंगुरिर्वर्ष्मन् दिवः सुवति सत्यमस्य तत् ।** (ऋ. ४।५४।४)=जो (सु+अगुरिः=अंगुलिः) उत्तम अंगुलियोंसे युक्त अर्थात् उत्तम कुशल देव पृथिवीका विस्तार और द्युलोककी उच्चता (सुवति) उत्पन्न करता है वह (अस्य सत्यं) इसीकी सत्य शक्ति है ।

(१५) **स नः शर्माणि वीतयेऽग्निर्यच्छतु शन्[illegible] ।** (ऋ. [illegible]४।४) वह (शन्तमा) शांति फैलाने वाला अग्नि हमारी (वीतये) रक्षाके लिये (शर्माणि) सुख (यच्छतु) प्रदान करे ।

(१६) **अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः । अछिन्नपत्राः सचन्ताम् ।** (ऋ. १।२२।११)=(नृ–पत्नीः) वीरोंकी पत्नियां (देवीः) देवता रूप बनकर (अ–छिन्न–पत्राः) जिनके साधन छिन्न भिन्न नहीं हुए हैं (महः अवसा) महत्व पूर्ण रक्षणके साथ (शर्मणा) और आनंदके साथ (नः अभि सचन्तां) हम सबकी योग्य व्यवस्था करें ।

(१७) प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्र चेतसे । (ऋ. ८।९।२०)=तेज, बल, (नृ–साह्याय) वीरोंकी सहन शक्ति, सुख, दक्षता, और उत्तम चिंतन शक्तिके लिये (प्र) विशेष यत्न करो।

(१८) तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिंधवोऽच्छिद्रा शर्म दधिरे पुरूणि । (ऋ. २।२५।५)=उसके लिये ही सब छिद्र रहित सिंधु (धुनयंतः) चल रहे हैं और बहुत सुख देते हैं।

(१९) सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि । (ऋ. १०।१६७।३)=सोम वरुण राजाके धर्ममें, बृहस्पतिकी अनुमतिसे (शर्मणि) सुखमें रहते हैं।

(२०) अच्छिद्राः शर्म जरितः पुरूणि देवाँ अच्छा दीद्यानः सुमेधाः । (ऋ. ३।१५।५)=(अ–छिद्राः) दोष [illegible] (सु–मेधाः) उत्तम बुद्धिमान (देवान् अच्छा दीद्यानः) देवोंकी भलाई करनेवाले बहुत सुख प्राप्त करके (जरितः) उत्तम बोलते हैं।

इस प्रकार पाठक पूर्वोक्त शब्दोंके तथा इस प्रकारके नकारान्त नपुंसकलिंगी शब्दोंके रूप वेद मंत्रोंमें देखें और उनको पहचाननेका अभ्यास करें। इस प्रकार करनेसे उनको मंत्रोंका अर्थ सुगम हो जायगा। अस्तु। यहां नपुंसकलिंगी और पुल्लिंगी सब शब्दके रूपोंका ज्ञान पाठकोंको हो चुका है

पाठ ३९

वणिक्सूक्त (अथर्व. ३।१९)

इंद्रमहं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नो अस्तु ॥ नुदन्नरातिं परिपंथिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

अन्वय—अहं वणिजं इंद्रं चोदयामि । सः नः आ एतु । नः पुर एता अस्तु । अरातिं परिपंथिनं मृगं नुदन् स ईशानः मह्यं धनदा अस्तु ।

अर्थ—मैं वणिक् इंद्रको प्रेरित करता हूं । वह हमारे पास आवे। और हमारा (पुरः-एता) अगुआ होवे । शत्रु, डाकु, मृग आदिको दूर करता हुआ वह स्वामी मुझे धन देनेवाला होवे ।

वणिक्—बनिया, क्रयविक्रय करनेवाला । इंद्र [illegible] राजा, [illegible]मी, ऐश्वर्यवान् ।

[illegible] पंथानो बहवो देवयाना अंतरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति ॥ ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमा हरामि ॥ २ ॥

अन्वय—ये देव-यानाः बहवः पंथानः द्यावा पृथिवी अंतरा संचरन्ति । ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां । यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि ।

अर्थ—जो देवोंके जानेके बहुत मार्ग द्युलोक और पृथिवीके बीचमें चलते हैं । वे दूध घीसे मुझे तृप्त करें । जिससे (क्रीत्वा) क्रयविक्रय करके धन ले आऊंगा ।

'**देव-यान**' शब्दपर श्री. सायणाचार्यजी लिखते हैं कि—**दीव्यन्ति व्यवहरन्ति इति देवा वणिजः। ते यत्र यांति ते देवयानाः।** देव शब्दका अर्थ वनिये हैं वे जहांसे जाते हैं, उन मार्गोंको देवयान कहते हैं। व्योपारियोंके जाने आने योग्य मार्ग।

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय॥ यावदीशे ब्रह्मणा वंदमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥ ३॥

अन्वय––हे अग्ने! इच्छमानः तरसे बलाय इध्मेन घृतेन हव्यं जुहोमि। यावत् ब्रह्मणा वंदमानः शतसेयाय इमां देवीं धियं ईशे।

अर्थ––हे अग्ने। धनकी इच्छा करनेवाला मैं वेग और बलके लिये (इध्मेन) समिधा और घीके साथ हवन सामग्रीका हवन करता हूं। तवतक कि मैं ज्ञानके साथ वंदन करता हुआ (शत-सेयाय) सेंकडों कर्मोंकी [illegible]ाके लिये इस दिव्य बुद्धिका स्वामी हूं।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरं। शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु॥ इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च॥ ४॥

अन्वय—हे अग्ने! यं अध्वानं दूरं अगाम नः इमां शरणिं मीमृषः प्रपणः विक्रयः च नः शुनं अस्तु। प्रतिपणः मा फलिनं कृणोतु। नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु। संविदानौ इदं हव्यं जुषेथां।

अर्थ––हे अग्ने। हम जिस मार्गपर दूर आगये हैं, उसपर हमारी यह यजनसंवंधी (शरणिं) त्रुटि (मीमृषः) क्षमा करो। (प्र-पणः)

क्रय और विक्रय हमारे लिये (शुनं) सुखदायी हो, (प्रति-पण:)लेन देन मुझे (फलिनं) लाभसे युक्त करे । हमारा (चरितं) व्यवहार और (उत्थितं) उठाव सुखदायक हो । आप जानते हुए इस हवन का सेवन कीजिये ।

(१) शरणि=त्रुटि, स्खलन, दोष, हिंसा, पीडा । (२) प्रपण=मूल द्रव्यसे पदार्थोंको मोल लेना, क्रय करना, खरेदी करना । (३) विक्रयः=खरीदे हुए पदार्थोंकी विक्री करना । (४) प्रतिपणः=लेन देनका व्यवहार करना । (५) फलिन्, फल=लेन देनके व्यवहार पर जो लाभ होता है उसको फल कहते हैं ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ॥ तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥ ५ ॥

अन्वय—हे देवाः । धनेन धनं इच्छमानः येन धनेन [illegible]रामि । [illegible]यः भवतु । मा कनीयः । हे अग्ने ! सातघ्नः द[illegible] हविषा [illegible] ।

अर्थ—हे देवो ! धनसे धनकी इछा करनेवाला मैं जिस धनसे क्रयविक्रय करता हूं । वह मेरे लिये बहुत होवे और कभी थोडा न होवे । हे अग्ने । (सात-घ्नः) लाभका नाश करनेवाले (देवान्) व्यवहार करनेवालोंका हविसे निषेध करो ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिछमानः ॥ तस्मिन्म इंद्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे देवो ! धनसे धनकी इच्छा करता हुआ मैं जिस धनसे क्रयविक्रय करताहूं, उसमें इंद्र आदि देव (मे रुचिं) मेरी रुची (आदधातु) रखें ।

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ॥ स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

अन्वय—हे होतः वैश्वानर । वयं नमसा त्वा उपस्तुमः । सः नः प्रजासु, आत्मसु, गोषु, प्राणेषु जागृहि ।

अर्थ—हे होता वैश्वानर ! हम नमस्कारसे तेरी स्तुति करते हैं वह तू हमारी प्रजाओं आत्माओं, गौओं, प्राणोंमें जागृती करो ।

(१) होता=हवनकर्ता, दाता, आदान कर्ता । (२) वैश्वा-नर=सब नरोंका हित करनेवाला । "वैश्वानरः विश्व-नर-हितः ([illegible]भाष्य)" । जागृति, बोध, ज्ञान आदिद्वारा सबका हित किया [illegible] है ।

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥

अन्वय—हे जातवेदः ! तिष्ठते अश्वाय इव ते विश्वा-हा सदं इत् भरेम । हे अग्ने ! ते प्रतिवेशाः रायः पोषेण इषा सं मदन्त मा रिषाम ।

अर्थ—हे जातवेद ! घरमें ठहरनेवाले घोडेको जैसा देते हैं, वैसाही तेरे लिये (विश्वाऽहा) सब दिन (सदं इत्) घरमें ही

निश्चयसे हम भरते हैं। हे अग्ने ! तेरे उपासक हम धनकी और इष्टकामनासे हर्षित होते हुए (मा रिषाम) कभी नहीं प्राप्त होंगे।

संधि—आ+एतु=ऐतु। नः+अस्तु=नो अस्तु। नुदन् +अरातिं=नुदन्नरातिं। ईशानः+धनदा=ईशानो धनदा। पंथानः+वहवः+देव=पंथानो वहवो देव। इध्मेन+अग्ने=इध्मेनाग्ने। यावत्+ईशे=यावदीशे। मीमृषः+नः+यं=मीमृषो नो यं। विक्रयः+च=विक्रयश्च। तत्+मे=तन्मे। भूयः+भवतु=भूयो भवतु। कनीयः+अग्ने=कनीयोऽग्ने। देवाः+धनं=देवा धनं। प्रजासु+आत्मसु=प्रजास्वात्मसु। इत्+भरेम=इद्भरेम। रायः+पोषेण=रायस्पोषेण।

शब्दोंके विशेष अर्थ—(१) इंद्र=मुख्य ईश्वर आत्मा। देवेंद्र=देवोंका मुख्य; नरेंद=नरोंमें प्र... राजा। मृगेंद्र=पशुओंका स्वामी। (२) ... अग्रेसर, ...रीण, इतरोंको चलानेवाला, अग्नि, ईश्वर ... देवाः=व्यवहार चतुर, व्यवहार करनेवा... प्रजापति=...ओंका पालक।

(६) सविता=“सविता वै सर्वस्य प्रसविता” (शत. ब्रा. १।१) सबका उत्पादक, रसका ग्रहण करनेवाला, अर्क सार सत्व आदि बनानेवाला। सबका प्रेरक, उत्साह वर्धक। (...) सोमः=(स+उमा) विद्याके साथ रहनेवाला। विद्यासे शोभनेवाला। रक्षक, ज्ञानके साथ विराजमान। चंद्र, सोमवल्लि, वनस्पतियां। (७)

अर्थ=(वैश्वा–नर, विश्व–नरा) सब मनुष्योंका समूह, सब क्रयविक्रका हित करनेवाला । जनताका हित करनेमें तत्पर । सबका (आ सबको संचालन देनेवाला । (८) जातवेदः=(जात–वेदः)= बने हुए पदार्थोंको जाननेवाला । जिससे वेद उत्पन्न हुए हैं । जो ने हुए पदार्थोंमें विद्यमान है । (९) रायस्पोषः=(रायः+पोषः) धन और पुष्टि । बल और हृष्टपुष्टता । (१०) सदं=घर, सभा, एकत्र बैठनेका स्थान । (११) विश्वाहा=(विश्व–अहा)=सर्वदा-हमेशा, सदा सर्वदा, प्रतिदिन । (१२) वाणिक्=बनिया, क्रय, विक्रय का व्यवहार करनेवाला, वैश्य ।

Shri H... ibamsha Prasad Upadhyay Baskota,
श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय बास्कोटा,
...wariniwas, Nepalganj, (Banke),
...श्वरी निवास, नेपालगंज, (बाँके)
UPAIDIHA, Dist. Bahraich, (U. P.)

हो...

वैश्वा–नर=सब ...

हितः (... भा...

किया ... रा है ।

विश्वाहा ...

रायस्पो...

रिष...

प्रति...